जनवरी-मार्च २००१

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

कहानीकार : ❊ कृष्णानंद 'कृष्ण' ❊ प्रतिभू बनर्जी ❊ डॉ. साधना शुक्ला
❊ सदाशिव 'कौतुक' ❊ राजेंद्र सिंह गहलौत ❊ कृष्ण 'मनु'

आमने / सामने : ❊ सुधा अरोड़ा

सागर / सीपी : ❊ डॉ. गिरिराज किशोर

१० रुपये

हमारे आजीवन सदस्य

प्रारंभ से लेकर अब तक 'कथाबिंब' ने काफी उतार-चढ़ाव देखे हैं. इस दौरान जिन व्यक्तियों या संस्थाओं से हमें सहयोग मिला हम उन सभी के आभारी हैं. 'कथाबिंब' का देश में, एक व्यापक पाठक वर्ग बन गया है. हमारी इच्छा है कि 'कथाबिंब' और अधिक लोगों द्वारा पढ़ी जाये.

आजीवन सदस्यों के हम विशेष आभारी हैं. जिनके सहयोग ने हमें ठोस आधार दिया है. सभी आजीवन सदस्यों से निवेदन है कि वे एक या दो या अधिक लोगों को आजीवन सदस्यता स्वीकारने के लिए प्रेरित करें. संभव हो तो अपने संपर्क के माध्यम से विज्ञापन भी उपलब्ध करायें. यदि विज्ञापन दिलवा पाना संभव है तो कृपया हमें लिखें.

- संपादक

१) श्री अरुण सक्सेना, नवी मुंबई
२) डॉ. आनंद अस्थाना, हरदोई
३) स्वामी विवेकानंद हाई स्कूल. कुर्ला, मुंबई
४) डॉ. डी. एन. श्रीवास्तव, मुंबई
५) डॉ. वेणुगोपाल, मुंबई
६) डॉ. नागेश करंजीकर, मुंबई
७) डॉ. प्रेम प्रकाश खन्ना, मुंबई
८) श्री हरभजन सिंह दुआ, नवी मुंबई
९) डॉ. सत्यनारायण त्रिपाठी, मुंबई
१०) श्री उमेशचंद्र भारतीय, मुंबई
११) श्री अमर ठकुर, मुंबई
१२) श्री बी. एम. यादव, मुंबई
१३) श्री संतोष कुमार अवस्थी, बड़ौदा
१४) सुश्री शशि मिश्रा, मुंबई
१५) श्री भगीरथ शुक्ल, बोईसर
१६) श्री कन्हैया लाल सराफ, मुंबई
१७) श्री अशोक आंद्रे, नयी दिल्ली
१८) श्री कमलेश भट्ट 'कमल', मथुरा
१९) श्री राजनारायण बोहरे, दतिया
२०) श्री कुशेश्वर, कलकत्ता
२१) सुश्री कनकलता, धनबाद
२२) श्री भूपेंद्र शेठ 'नीलम', जामनगर
२३) श्री संतोष कुमार शुक्ल, शाहजहांपुर
२४) प्रो. शाहिद अब्बास अब्बासी, पांडिचेरी
२५) सुश्री रिफ़अत शाहीन, गोरखपुर
२६) श्रीमती संध्या मल्होत्रा, अनपरा, सोनभद्र
२७) डॉ. वीरेंद्र कुमार दुबे, चौरई
२८) श्री कुमार नरेंद्र, दिल्ली
२९) श्री मुकेश शर्मा, गुड़गांव
३०) डॉ. देवेंद्र कुमार गौतम, सतना
३१) श्री सत्यप्रकाश, मुंबई
३२) डॉ. नरेश चंद्र मिश्र, मुंबई
३३) डॉ. लक्ष्मण सिंह विष्ट, 'बटरोही,' नैनीताल
३४) श्री एल. एम. पंत, मुंबई
३५) श्री हरिशंकर उपाध्याय, मुंबई
३६) श्री देवेंद्र शर्मा, मुंबई
३७) श्रीमती राजेंद्र कौर, नवी मुंबई
३८) डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला, नवी मुंबई
३९) श्री नवनीत ठक्कर, अहमदाबाद
४०) श्री दिनेश पाठक 'शशि', मथुरा
४१) श्री प्रकाश चंद्र श्रीवास्तव, वाराणसी
४२) डॉ. हरिमोहन बुधौलिया, उज्जैन
४३) श्री जसवंत सिंह विरदी, जालंधर
४४) प्रधानाध्यापक, 'ब्लू बेल' स्कूल, फतेहगढ़

जनवरी - मार्च २००१
(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना 'अरविंद'
संपादिका
मंजुश्री

संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
देवमणि पांडेय
अशोक वशिष्ठ
जय प्रकाश त्रिपाठी

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

: सदस्यता शुल्क :
आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १०० रु.
वार्षिक : ४० रु.
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
विदेश में (समुद्री डाक से)
वार्षिक : १५ डॉलर या १२ पौंड
कृपया सदस्यता शुल्क चैक (कमीशन जोड़कर) मनीऑर्डर, डिमान्ड ड्राफ्ट, पोस्टल ऑर्डर द्वारा केवल 'कथाबिंब' के नाम ही भेजें.

: संपर्क :
ए-१० 'बसेरा,'
ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८
फोन : ५५१ ५५४१ व ५५५ ५८२२
टेलीफैक्स : ५५५ २३४८
e-mail: kathabimb@yahoo.com

एक प्रति का मूल्य : १० रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु १० रु. के डाक टिकट भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

|| ५ || दुर्घटना / कृष्णानंद 'कृष्ण'
|| ११ || मां, मुनु कब आयेगी ? / प्रतिभू बनर्जी
|| १४ || मैकी / डॉ. साधना शुक्ला
|| १८ || पापा की तलाश में / सदाशिव 'कौतुक'
|| २२ || काके दी गड्डी / राजेंद्र सिंह गहलौत
|| २५ || पांच सवाल और शौकीलाल जी / कृष्ण 'मनु'

लघुकथाएं

|| १७ || राजनीति / गजानन देशमुख
|| ४९ || उपलब्धियों का हिसाब / अमरलाल सोनी
|| ५४ || एनकॉउंटर / गुरूदत्त पांडे
|| ५४ || तमाशा / विजय शंकर विकुज

गीत / कविताएं / ग़ज़लें

|| १३ || नन्हीं पत्तियों से / जगदीश खरे
|| २१ || ग़ज़लें / भानुमित्र
|| २४ || तुम / सुरेंद्र रघुवंशी
|| २७ || ग़ज़ल / हितेश व्यास
|| २८ || गीत / मधु प्रसाद
|| ५० || यह किस्मत का खिलौना / सोहन राही
|| ५० || तीन शब्द चित्र, आदमी हो गया है नंग... / उषा राजे सक्सेना
|| ५१ || धरती / उर्मिल जैन
|| ५१ || एक बार फिर..., नन्हा-सा द्वीप सुधियों का / देवदत्त वाजपेयी
|| ५२ || टूटा हुआ आदमी, शायद तुम नहीं जानते / अशोक सिंह
|| ५२ || स्वप्न / रजनी मोरवाल
|| ५३ || ग़ज़लें / अनिरुद्ध सिन्हा
|| ५३ || ग़ज़ल / कृष्ण सुकुमार
|| ५३ || ग़ज़ल / शैलेंद्र चौहान

स्तंभ

|| ४ || 'कुछ कही, कुछ अनकही'
|| २९ || आमने-सामने / सुधा अरोड़ा
|| ३५ || सागर-सीपी / डॉ. गिरिराज किशोर
|| ४२ || पुस्तक-समीक्षाएं

(आवरण चित्र कलाकार : *श्रीमती उर्मिल जैन*)

लेटर बॉक्स

❁ 'कथाबिंब' जुलाई-दिसंबर २००० अंक प्राप्त हुआ. इस अंक की कई कहानियों ने प्रभावित किया. जिनमें 'इतिहास कथा', 'नींद के बाहर', 'ख़तरनाक खेल', 'शेषयात्रा' इत्यादि मुख्य हैं.

'इतिहास कथा' नारी जीवन की विडंबनाओं को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के साथ-साथ वर्तमान की त्रासद स्थिति को भी बड़ी ही कलात्मकता के साथ प्रस्तुत करती है. वहीं 'नींद के बाहर' कहानी वर्तमान समय के रेशे-रेशे को पकड़ती हुई बाज़ार व्यवस्था में आदमी की हैसियत को दर्शाते हुए उसके भीतर अंकुर लेती नयी ज़िंदगी को पहचानने एवं उसे वाणी देने का प्रभावपूर्ण असर पैदा कर रही है. कभी-कभी लगता है, कहानी में बार-बार बिहार की चर्चा किसी खास उद्देश्य के लिए की गयी है. 'ख़तरनाक खेल' में जसवंत सिंह विरदी ने बड़ी ही बारीकी से एक प्रतीक का प्रयोग किया है और व्यवस्था के असली स्वरूप को उजागर कर दिया है. इस कहानी ने सर्वाधिक प्रभाव छोड़ा, खूबसूरत शिल्प एवं किस्सागोई के माध्यम से.

इसके अलावा 'शेष यात्रा', 'शरणम् गच्छामि' एवं 'मयूरी अधूरी' ने भी अपना अपेक्षित प्रभाव छोड़ा है.

✣ सुरेश कांटक

कांट (ब्रम्हपुर), वक्सर ८०२११२ (बिहार)

❁ 'कथाबिंब' कहानी विशेषांक-२ पढ़ने में वक़्त लग गया. डॉ. सूर्यबाला, धीरेंद्र अस्थाना, डॉ. दामोदर खड़से तथा सुधा अरोड़ा की कहानियां विशेष रूप से पसंद आयीं. राजेंद्र यादव से बातचीत विचारोत्तेजक है और नयी बहस के लिए गुंजाइश छोड़ती है. अशोक वाजपेयी और निर्मल वर्मा के संबंध में प्रकट की गयी यादवजी की राय में मुझे सच्चाई नज़र आती है. लेकिन बैठक बाजी और घर-परिवार के बारे में उनके उद्‌गारों से पूर्णतः सहमत हो पाना मुश्किल है. माना कि बंधनों से लिखने में व्यवधान पैदा होता है, लेकिन इस परिवार को जिसे आपने अपनाया है, उसकी उपेक्षा कर तथा उसकी पसंदगी-नापसंदगी को नज़रअंदाज़ कर आप अपने को एक संवेदनशील रचनाकार कैसे कह सकते हैं. समाज के प्रति हम चिंता जतायेंगे, लेकिन परिवार को निगलेक्ट करेंगे, यह भूलकर कि परिवार समाज की पहली इकाई है ! लेखक को अपनी मौज-मस्ती के लिए क्यों कोई गली निकालनी चाहिए ?

एक अच्छे संयोजन के लिए बधाई स्वीकारें.

✣ सूर्यकांत नागर

८१/२, बैराठी कॉलोनी, इंदौर - ४५२ ०१४ (म. प्र.)

❁ कहानी विशेषांक-२ का अवलोकन करके मेरा अलौकिक उर कृतकृत्य हो गया. इस प्रकार की साहित्यिक पत्रिका आजकल प्रकाशित होना अपने आप में अनूठी बात लगती है. 'वीणा साहित्य परिषद' (फर्रूखाबाद) की शुभकामनाएं स्वीकारें.

भाई संजय सिन्हा की ग़ज़ल का मतला - *तुम जब कभी भी देश का इतिहास लिखना । उसमें मेरी भूख, तड़प और प्यास लिखना ।।* मन को अति सुंदर लगा. चांद मुंगेरी की व्यंग्य ग़ज़ल पूरी की पूरी अच्छी प्रतीत होती है. कहानीकार रमेश कपूर की कहानी 'पुल' समाज को नयी दिशा प्रदान करने में सक्षम है. लघुकथाएं 'गरीब' और 'मूड' बहुत ही पसंद आयीं.

✣ जे. पी. टंडन 'अलौकिक'

'वीणा साहित्य परिषद', २/१४७ खतराना, फर्रूखाबाद (उ. प्र.)

❁ 'कथाबिंब' का कहानी विशेषांक-२ मिला. अभी कमलेश्वर भाई की 'इतिहास कथा' ही पढ़ पाया हूं. सशक्त कथा है. कविताएं-ग़ज़लें-लघुकथाएं बहुत ही उच्च स्तरीय - आनंददायक रहीं. पढ़कर वाकई में मज़ा आ गया. इतने सुंदर अंक के लिए अंतर्मन से हार्दिक साधुवाद !

✣ अवतंश रजनीश

प्र. संपादक 'चर्चित-अचर्चित', प्रकाश नगर, रायबरेली २२९००१

❁ 'कथाबिंब' का कहानी विशेषांक-२ मिला. अस्वस्थ होते हुए भी उक्त अंक हाथ में आते ही राजेंद्र यादव से की गयी बातचीत पढ़े बिना न रह सका. उन्होंने हमेशा की तरह चौंकाने वाली बातें कही हैं. श्री निर्मल वर्मा के लेखन के बारे में उनका कथन कुंठाग्रस्त एवं कलर ब्लाइंड जैसा लगा. इसी क्रम में राजेंद्र जी ने बहुत ही अनोखी बात कह दी है, 'वैसे भी आज कौन लिख रहा है ? और जो लिख रहा है, उसका मतलब है कोई ?' -सारे वर्तमान लेखन को एवं महिला लेखन को भी भूल गये, जिनके कि आप हियामती हैं.

बहरहाल यह बातचीत विचारोत्तेजक रही है एवं इसे इस अंक की उपलब्धि मान सकते हैं.

विशेषांक में कमलेश्वर और जसवंतसिंह विरदी की कहानियां बड़े व्यापक संदर्भों वाली हैं. इनके रचना कौशल ने बहुत गहरे तक प्रभावित किया.

'गुमशुदा दोस्त की तलाश' भी बड़ी ही मार्मिक आत्म रचना है. सुधा जी ने बड़ी बेबाकी से एवं बड़े सलीके से अपनी बात कह कर 'आमने/सामने' स्तंभ को सार्थक किया है.

✣ चंद्रशेखर दुबे

२४२ तिलक नगर, इंदौर - ४५२००१

❁ 'कथाबिंब' के कहानी विशेषांक के दोनों खंडों को मिलाकर अगर यह कहें कि ये पूरी सदी का प्रतिनिधित्व करते हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए. दूसरे खंड में राजेंद्र यादव का साक्षात्कार पढ़ा. बड़ा अजीब-सा लगता है, जब वे कर तो वही बैठते हैं, जिसके न करने की कसम भी पूर्व में खा चुके होते हैं. मजबूरी है ...'हंस' को चलाना है... सरकारी पुरस्कार न मिलता तो किसी माफिया डॉन की शरण में चले जाते... वैसे कसम तो तोड़ने के लिए ही बनी है. मैं पूछता हूं, क्या मात्र 'हंस' के ही साथ यह स्थिति है कि किसी भी समझौते के लिए मजबूर होना पड़े ? 'कथाबिंब', 'कथादेश' ... या अन्य ऐसी पत्रिकाएं किसी धनकुबेर के बल पर चल रही हैं ?... फिर तो अगर कोई किरानी यह तर्क देकर कि उसे बेटी की शादी करनी थी, घूस के दलदल में फंसा रहता है तो इसे क्षम्य माना जाना चाहिए. जहां तक मेरा अनुभव है, तकरीबन सारी की सारी लघुपत्रिकाएं आर्थिक संघर्ष से ही चलती हैं. तो क्या इस तंगी से उबरने के लिए उन्हें किसी भी तरह के समझौते कर लेने चाहिए ? मैं यादव जी से यह नहीं कहता कि सरकारी पुरस्कार लेना पाप है. वे डिजर्व भी करते हैं. फिर पुरस्कार न लेने की कसम क्यों ? और लेने के बाद 'हंस' को ढाल बनाने की क्या ज़रूरत है. उन्हें पुरस्कार मिला, उन्होंने लिया. मामला ख़त्म.

✣ रतन वर्मा

३८ ऑफिसर्स फ्लैट्स, झील कॉलोनी,
पी.टी.सी., हज़ारी बाग ८२५३०१ (झारखंड)

❁ 'कथाबिंब' कहानी विशेषांक-२ मिला और मैं उसकी प्रस्तुति से फिर चकित रह गया. मुखपृष्ठ की सुषमा ने सहज ही मन को मोह लिया. कक्षाएं तो समाप्त हैं, परीक्षाएं होने को हैं. घर पर ही एम.ए. की कुछ छात्राओं ने आपकी पत्रिका की बहुत तारीफ़ की. मुझे लगता है, कीमत और प्रस्तुति में, "हंस"- "कथाबिंब" का ही बोलबाला होने वाला है.

✣ जगदीश खरे

सिविल लाइन्स नं.२, सुलतानपुर २२८ ००१ (उ. प्र.)

❁ कहानी विशेषांक-२ अपने कलेवर और सामग्री सहित प्रशंसनीय है और प्रशंसनीय है आपका यह प्रयास कि इस पत्रिका को आपने संप्रेषणीय और संवादी स्वरूप दे दिया है. रचनाएं एक से बढ़कर एक हैं और ज़िंदगी के बृहत्तर सरोकारों से जुड़ी हैं. राजेंद्र यादव के इंटरव्यू में भाषा 'कथाबिंब' की सी लगती है, उनकी यह भाषा तो नहीं ही है. 'हंस' में और, और दूसरे लेखों में वे इतने शालीन कहां होते हैं ? इस अंक के लिए, सारगर्भित रचनाओं के लिए आपको साधुवाद !

✣ प्रज्ञान भारती

टेलीकॉम कॉलोनी, नरसिंहपुर ४८७ ००१ (म. प्र.)

❁ 'कथाबिंब' का कहानी विशेषांक-२ मिला. कई कहानियां पढ़ भी गया. पत्रिका का कलेवर, सामग्री सब कुछ इतना स्तरीय और आकर्षक है कि अब इसे लघुपत्रिका कहने को जी नहीं चाहता. तमाम बाधाओं के बीच यह साहित्यिक अभियान जारी रहे. यही मेरी शुभकामना है.

✣ डॉ. वेद प्रकाश 'अमिताभ'

१४/१०६, राज विला, मोती मिल कंपाउन्ड, अलीगढ़ - २०२००१

❁ 'कथाबिंब' के सामान्य अंक भी विशेषांक जैसे होते हैं, सामग्री और प्रस्तुतीकरण को लेकर. फिर अभी आये दोनों विशेष अंक तो ग़ज़ब ढा रहे हैं. आज ऐसी उम्दा सामग्री प्राप्त कर परोसना आसान काम नहीं है. गंभीर पाठक गदगद हो रहा है. दोनों अंकों की कहानियों को लेकर अच्छा प्रकाशक पुस्तक भी निकाल सकता है. मेरा पाठक आभारी है. डॉ. अरविंद और मंजुश्री ने इतनी पठनीय सामग्री हमें सौंपी है.

✣ फूलचंद 'मानव'

३७२८/२२ डी, चंडीगढ़ १६० ०२२

❁ 'कथाबिंब' का कहानी विशेषांक-२ मिला. प्रथम खंड के क्रम में यह अंक भी प्रभावी एवं दस्तावेज़ी है. कहानी की प्रतिष्ठा एवं महत्ता को स्थापित करता संपादकीय वक्तव्य पुनः पुनः पढ़ने को मन करता है. कमलेश्वर की 'इतिहास कथा' उनके उपन्यास की एक बानगी जैसी है और 'कितने पाकिस्तान ?' की प्रवृत्ति का ज्वलंत प्रमाण ! डॉ. सूर्यबाला, धीरेंद्र अस्थाना एवं सूरज प्रकाश की कहानियों को पढ़कर लगा कि कथाकार जागरूकता से सामयिक सरोकारों को बड़ी तत्परता से उजागर कर रहे हैं. प्रस्तुत अंक की सभी कहानियां आज की ज़िंदगी के सभी ख़तरों को रेशा-रेशा करके खोल रही हैं. ऐसी ही कहानियां आज कहानी लेखन को साहित्य की सर्वश्रेष्ठ डायनामिक विधा सिद्ध करने में सक्षम हैं. निश्चय ही ऐसे विशेषांक कहानी की महत्ता स्थापित करते हैं.

✣ मदन मोहन 'उपेंद्र'

ए-१० शांतिनगर, मथुरा २८१००१

❁ 'कथाबिंब' का कहानी विशेषांक-२ क्या है, एक पूरा कहानी संग्रह ही है. इतने सारे कथाकार अपनी सार्थक रचनाओं के साथ उपस्थित हैं. इसके अतिरिक्त पर्याप्त काव्य रचनाएं और लघुकथाएं भी. स्थायी स्तंभ तो हैं ही. इतने श्रीमंत अंक हेतु हार्दिक बधाई.

✣ चंद्रसेन 'विराट'

'समय', १२१, वैकुंठधाम कॉलोनी, इंदौर ४५२००१

(कुछ और प्रतिक्रियाएं कृपया पृष्ठ ५६ पर देखें)

कुछ कही, कुछ अनकही

यह वर्ष २००१ का पहला अंक है. 'कथाबिंब' को प्रकाशित होते हुए लगभग २२ वर्ष हुए हैं. पत्रिका को शुरू करते समय जिस स्वरूप की कल्पना मन में थी वह कुछ सीमा तक अब जाकर साकार हुई है. पहले से ही हमने सोचा था कि पत्रिका 'एकेडमिक' न रहे बल्कि सीधे-सीधे पाठकों से जुड़ी रहे. इसीलिए 'कथाबिंब' में लेखों-आलेखों-समालोचनाओं की भारी-भरकम सामग्री नहीं दी जाती रही. मुझे अच्छी तरह मालूम है कि कुछ लोगों को मेरी यह बात नागवार लगेगी लेकिन यह सच है कि सामान्य पाठक ऐसी ठोस सामग्री को नहीं पढ़ता और ऐसे पन्नों को पलट देता है.

वर्ष १९९९ के अक्तूबर-दिसंबर अंक में, जो अप्रैल २००० में ही प्रकाशित हो पाया था, रेखा सक्सेना की कहानी 'पिघलता हुआ हिमखंड' छपी थी. इससे पूर्व कुछ पत्रिकाओं और समाचार-पत्रों में रेखा जी की कविताएं और लेखादि प्रकाशित हुए थे. 'पिघलता हुआ हिमखंड' उनकी पहली कहानी थी. कैंसर जैसी प्राणघातक बीमारी से वे काफी अर्से से जूझ रही थीं. बहुत इच्छा थी कि वे कहानी को 'कथाबिंब' में प्रकाशित हुआ देखें. किंतु ऐसा संभव नहीं हो पाया. उनकी पहली बरसी (२८ मार्च) पर पति श्री उमेश चंद्र जी ने इच्छा ज़ाहिर की है कि पूरे साल में 'कथाबिंब' में प्रकाशित कहानियों में से कुछ चुनिंदा कहानियों को 'रेखा-स्मृति पुरस्कार' दिये जायें. इस संबंध में यह निश्चित किया गया है कि श्रेष्ठता का क्रम पाठकों द्वारा ही निर्धारित किया जाये. प्रतिवर्ष, अक्तूबर-दिसंबर अंक में एक कूपन छपेगा जिसमें उस वर्ष के सभी अंकों में प्रकाशित कहानियों के शीर्षकों/रचनाकारों के आगे १,२,३,४.... आदि संख्याएं लिखकर पाठक अपना अभिमत प्रगट कर सकेंगे. वर्ष २००१ के पुरस्कारों का निर्णय पाठकों के अभिमतों के आधार पर होगा. फिलहाल, वर्ष २००० के लिए पाठकों के पत्रों के आधार पर पुरस्कृत कहानियों का चुनाव कर लिया गया है. प्रथम पुरस्कार (१००० रु.) : 'हासिम का'; द्वितीय पुरस्कार (७५० रु. -दो) : 'दूसरा दरवाज़ा' और 'आइरिस के निकट'; प्रोत्साहन पुरस्कार (५०० रु. - पांच) : 'भाग्यविधाता', 'चिड़िया अपनी शर्तों पर...', 'प्यासा इंद्रधनुष', 'अल्प-विराम', तथा 'वह औरत'. पुरस्कार की राशि शीघ्र भेजी जा रही है, सभी पुरस्कृत कहानीकारों को बधाई.

●

हर घटना और हर बात के अनेक पहलू होते हैं. अगर हम बहुत ज़ल्दी 'रिएक्ट' करते हैं या फिर एकदम से चुप लगा जाते हैं तो यह भी ठीक नहीं. 'रिएक्ट' तो हमें करना ही चाहिए लेकिन हमारी प्रतिक्रिया संतुलित होनी चाहिए. विडंबना यह है कि मीडिया -चाहे समाचार-पत्र हो या दृश्य-श्रव्य माध्यम हर 'घटना' को तोड़-मरोड़ कर, अपने रंग में रंग कर पेश करता है. १३ मार्च को टी. वी. पर 'तहलका डॉट कॉम' ने कुछ टेप दिखाये. इन टेपों को इसी समय क्यों दिखाया गया ? क्या गुजरात में आये भूकंप की विभीषिका अचानक कम हो गयी थी ? इससे पूर्व थोड़े दिन पहले तीन मंत्रियों के इस्तीफ़ों की मांग ने संसद को नहीं चलने दिया था, लेकिन वह बात बहुत लंबी नहीं खींची जा सकी. इस बार टेपों से तहलका मचा कर संसद ठप्प की गयी. क्या इसके पीछे पांच राज्यों में चुनाव होना कोई कारण था ? उधर 'तहलका डॉट कॉम' के शेयरों के दाम बढ़ गये. 'तहलका' और 'जी. टी. वी.' ने खूब कमाया. जी. टी. वी. द्वारा तहलका टेपों के पुनः प्रदर्शन पर १० सेकंड के विज्ञापन की दर थी ५ लाख रुपये. जबकि 'कौन बनेगा करोड़पति' गेम-शो शुरू में जब वह अपने चरम पर था १० सेकंड के ४ लाख से अधिक नहीं कमा सका था. यह खोजी पत्रकारिता है, राष्ट्रहित में किया गया भंडाफोड़ है या सीधा-सीधा व्यापार ? प्रश्न बहुत से हैं. फर्स्ट ग्लोबल बैंक और 'तहलका' का क्या संबंध है ? कैसे किसी विदेशी कंपनी (वेस्ट एंड, लंडन) के नाम का लेटर-हेड और प्रचार सामग्री छपवा कर कोई भी व्यक्ति चाहे वह पत्रकार ही क्यों न हो घूस देने की कोशिश कर सकता, लोगों को होटलों में खिला-पिला सकता है ? घूस लेना और देना दोनों अपराध हैं. आप पत्रकार हैं, धोखेबाज तो नहीं.

'तहलका' ने कोई नयी बात उजागर नहीं की है. भ्रष्टाचार की जड़ें भारतीय समाज में बहुत गहरे पैठी हैं. पूरी की पूरी व्यवस्था आज आकंठ भ्रष्टाचार में डूबी है. हर छोटे-बड़े सरकारी दफ़्तर में चाहें वह नगरपालिका हो, तहसील कार्यालय हो, रजिस्ट्रार या कलेक्टर का ऑफिस हो, कोर्ट-कचहरी हो जहां भी आपको कोई काम कराना हो बिना घूस दिये कोई फ़ाइल आगे नहीं खिसकती. हर 'हस्ताक्षर' की अपनी कीमत होती है जो आपको चुकानी ही पड़ती है. दरअसल, भ्रष्टाचार का राष्ट्रीयकरण उसी दिन हो गया था जब स्टेट बैंक के एक बेनामी खाते से खजांची ने माताजी की आवाज़ सुनकर ६० लाख रुपये निकाले थे. आज तक नगरवाला कांड के रहस्य का पर्दाफ़ाश करने कोई भी खोजी पत्रकार आगे नहीं आया.

राजनीतिक दलों द्वारा चुनावों में पानी की तरह पैसा बहाने के कारण ही भ्रष्टाचार का राक्षस आज इतना विकराल आकार ग्रहण कर सका है. भूतपूर्व चुनाव आयुक्त शेषन ने चुनाव-व्यय पर अंकुश लगाने के भरसक प्रयास किये और काफी हद तक वे उसमें सफल भी हुए. लेकिन तात्कालीन सत्ताधारियों को यह रास नहीं आया और शेषन के एकाधिकार को ख़तम कर दिया गया. यह भी आज तक पता नहीं चला है कि हर्षद मेहता से मान्यनीय नरसिंह राव ने एक करोड़ रुपये लिये थे या नहीं. किंतु तबसे, चेतन-अवचेतन में लोगों में यह भावना घर कर गयी है कि जब प्रधानमंत्री एक करोड़ ले सकता है तो वे क्यों नहीं ! घोटालों में लिप्त कई नामी-गिरामी लोगों पर मुकदमें चल रहे हैं. किसी को सजा मिलेगी भी, इस बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता. कछुआ गति से चलने वाली न्याय-प्रक्रिया से भी भ्रष्टाचार को तरज़ीह मिलती है. राजनीतिक दलों द्वारा नाज़ायज़ पैसा लेने पर रोक लगाकर, भ्रष्टाचारियों को कठोर दंड देने और न्याय-प्रक्रिया को सत्वरता प्रदान करके भ्रष्टाचार को कम किया जा सकता है न कि तहलका मचाकर.

अरविंद

कहानी

दुर्घटना

कृष्णानंद कृष्ण

भैया जी सच्चिदानंद के पास अब फुर्सत ही फुर्सत है. शायद लोग भूलकर भी इधर का रुख़ नहीं करते. रास्ता काटकर निकल जाना चाहते हैं. संयोगवश उनकी नज़र पड़ जाती है, तो लोग शिष्टाचारवश प्रणाम-पाती कर किसी-न-किसी बहाने खिसक जाते हैं और भैयाजी फिर अकेले रह जाते हैं. उदासी की एक मोटी पर्त चारों तरफ छा जाती है. पहले तो कभी ऐसा नहीं होता था. पहले लोग थे, समस्याएं थीं. नहीं था तो सिर्फ समय. समय कब गौरैया की तरह फुर्र से उड़ जाता था इसका पता ही नहीं चलता था. किंतु वह सब तो इतिहास की बात हो गयी. सुख तो जैसे सपना हो गया. अब तो यह अकेलापन ही उनका दोस्त हो गया. यही सोचते-सोचते वे अकेलेपन की गिरफ़्त में जकड़ते जा रहे हैं.

अकेलेपन के उमड़ते सैलाब में वे डूबते जा रहे हैं. हवा का एक शोर उनके कानों में उभरता है. हड़बड़ा कर आंखें खोलते हैं. सामने सन्नाटा डोल रहा था. और वे कुर्सी पर बैठे थे, निपट अकेले. सिर्फ हवा का शोर था. भैया जी उठकर बारामदे में टहलने लगते हैं. सामने दीवार पर एक बड़ी सी तस्वीर लगी हुई है. यह तस्वीर उस समय की है, जब पहली बार मंत्री के रूप में उन्हें शपथ दिलाई गयी थी. तस्वीर को देखकर उनके भीतर की उदासी छंटने लगी थी. मन पुलकित हो उठा था. कुछ समय के लिए अकेलेपन से भी छुटकारा मिल गया था. वे तालियों की गड़गड़ाहट में डूब जाते हैं. उनके होठें पर चवनिया मुस्कान थिरक उठती है. वे उन दिनों की याद में डूब जाते हैं. - समूचे हाल का दृश्य उनकी आंखों के सामने उभर आता है. समूचा हाल वी. आई. पी. लोगों से खचाखच भरा था. समूचे माहौल में एक भीनी-भीनी सी सुगंध भर गयी थी. यह सब उन्हें बहुत अच्छा लगा था. वे चाह रहे थे - वह सम्मोहन कभी न टूटे. वे तस्वीर को देखते रहते. उससे बतिआते रहते.

"मालिक ! मालिक !! छोटका बबुआ के फोन बा." कमेसर की बोली से उनके भीतर अचानक चन्न-से कुछ टूट गया था. उन्होंने खा जानेवाली नज़रों से उसे देखा था.

"इस ससुरे को अभी ही आना था." -कहते हुए उठकर ड्राइंग रूम में चले जाते हैं.

फोन पर छोटे की बात सुनकर उनके चेहरे का रंग बदलने लगा था. कभी गुस्से में चेहरा तमतमा उठता, तो कभी लाचारी में निस्तेज हो जाता. फोन पर वे छोटे को कुछ हिदायत देते हैं. कहते हैं कि वे उनका हवाला दे. अगर उससे बात नहीं बनती है, तो मुझसे बात करावे. ...स्साले. अब तो सब बाघ बन गये हैं. अच्छा मौका हाथ आने पर सब सालों को मजा चखा दूंगा. राजनीति में तो 'अबकी हमारी पारी, तबकी तोहारी पारी' वाली बात है.

"क्या कह रहा है ? नहीं छोड़ेगा ? उसकी इतनी हिम्मत. साला, दो टके के आदमी की इतनी हिम्मत. जरा फोन तो दो."

"हां ! हां !! मैं भैयाजी सच्चिदानंद, पूर्व केंद्रीय मंत्री बोल रहा हूं. अरे भाई, वह ट्रक मेरे बेटे का है. ले-देकर मामला सलटा लो."

-"क्या कहा ? ट्रक नहीं छोड़ेंगे ? इतनी हिम्मत. अपनी औकात मत भूलो. हाथी मरने के बाद भी सवा लाख का होता है. सोच-समझ लो."

और खट् की आवाज़ के साथ फोन कट जाता है.

वे भीतर-भीतर बेचैन होने लगे थे. मन के भीतर की बेचैनी बढ़ने लगी थी. रक्तचाप बढ़ने लगा था. फोन पर उनकी अंगुलियां वैसे दौड़ रही थीं जैसे साज बजाने वाले का हाथ हारमोनियम पर चलता है. "...हैलो ...हां ...हां, मैं पांडे बोल रहा हूं." "...मैं भैया जी सच्चिदानंद बोल रहा हूं. पांडे. बात ऐसी है कि मेरे ट्रक को एक इन्स्पेक्टर ने पकड़ लिया है. भाई बाल-बच्चों का सवाल है. जरा देखो भाई."

"क्या कह रहे हैं ...अभी कोई मदद संभव नहीं है. ऊपर का दबाव बहुत ज्यादा है. सबसे बड़ी बात है सरकार भी तो विपक्ष की है. ऐसी दशा में कोई मदद संभव नहीं लगती." ...और फोन कट गया.

भैया जी कभी फोन के चोंगे को तो कभी सामने टंगी तस्वीर को देखते हैं, और फोन पटक देते हैं. गुस्से में चेहरा तांबे की तरह लाल हो उठता है. सोफे से उठकर कभी बाहर आते हैं कभी भीतर जाते हैं. कुछ समझ नहीं पाते हैं. क्या करें ? कोई कुछ सुनने को तैयार नहीं है. राजनीति में हारे हुए व्यक्ति की स्थिति बूढ़ी वेश्या की तरह हो जाती है, जिसको देखकर करुणा तो उपजती है, किंतु लोग उससे सटना नही चाहते. और बेटे भी तो समय की नज़ाकत को नहीं समझ पाते. हर काम संभल कर करना चाहिए.

अपनी पार्टी की सरकार रहती, तो कुछ बात बनती. मगर यहां तो विपक्ष की सरकार है. अब पहले वाली बात नहीं रही. पहले जो लोग दर्शन के लिए लाइन में खड़े रहते थे. अब फोन करने पर कहलवा देते हैं, "घर पर नहीं हैं." पहले जब वे आते थे, तो जिले के तमाम पदाधिकारी मच्छर की तरह उनके आगे-पीछे भनभनाते चलते थे, किंतु आज उनकी स्थिति मरी हुई चींटी की तरह हो गयी है. यही सब सोचते हुए वे बरामदे में आकर सामने रखी हुई आराम कुर्सी खींचकर उस पर लेट जाते हैं. चिंतन की मुद्रा में आंखें बंद कर लेते हैं.

आंखें मूंदते ही उनकी पिछली ज़िंदगी के क्षण आंखों के सामने तैरने लगे. उस समय भी लोग उनका मज़ाक उड़ाते थे. कोई भर मुंह बोलता भी नहीं था. वे कंधे पर झोला लटकाये, पैर में टूटी हवाई चप्पल, जिसके फीते में बनारसी घोड़े की रास की तरह जोड़ ही जोड़ नज़र आते हैं, वे रामरतन पांडे के पीछे-पीछे घूमते रहते थे. लोग उनको देखकर फिकरा कसते -"देखो, पांडे जी का चमचा आ गया." उन्हें अभी भी याद है, उस समय फिस्स से हंसते हुए कहते -"भाई जी, राजनीति के शिखर पर पहुंचने के लिए चमचई तो करना ही पड़ेगा. कौन जनता के बीच में अपना माथा फोड़वाये. कहीं पांडे जी खुश हो गये और राज्य सभा का टिकट मिल गया, तो समझिए वैतरणी पार. हर्र लागी ना फिटकिरी आ रंग चोखे-चोख."

उनके चेहरे पर खुशी की हल्की लहर दौड़ती है. सामने टंगी तस्वीर को वे देखते हैं. जीत के बाद पहली बार अपने शहर आये थे. यह उनके जीवन का पहला बड़ा अवसर था. वे सर्किट हाउस में ठहरे थे. बाहर भीड़ लगी हुई थी. उनसे मिलने और उन्हें देखने के लिए धक्का-मुक्की हो रही थी. लोग परेशान और बेचैन थे. लोगों की आंखों को खटकने वाला चेहरा इतना महत्वपूर्ण हो गया था. वे सबकी आंखों का तारा बन गये थे. अपार भीड़ को देखकर वे गुस्साते पर भीतर-भीतर खुश होते. उन्हें आनंद आता. अपने शहर में अपने लोगों के बीच पहली बार उनका नागरिक अभिनंदन किया गया था. समूचा हॉल खचाखच भरा था. तिल रखने कर ज़गह नहीं थी. सभी की नज़रें उनके दर्शन की प्यासी थीं. उन्हें याद आता है, पांडे माईक पर एनाउन्स कर रहा था - "भाइयों ? भैया जी की यह सफलता तो बहुत छोटी है. अगर ये इसी तरह तरक्की की सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ते रहें, तो शिखर पर पहुंचने में कोई देर नहीं होगी. जिस दिन ये राजनीति के शिखर पर पहुचेंगे, वो दिन हमारे लिए खुशियों से भरा होगा. भैया जी के यश की सुगंध चारों तरफ फैले यही हमारी कामना है." इन बातों की याद आते ही भैया जी के मन में गुदगुदी होने लगती है.

भैया जी को याद आ रहा है. पहली बार 'कबीना' मंत्री बनने के बाद, जब वे यहां आये थे, उनका कद एकाएक जिराफ

२ जुलाई १९४७, चांदी (नरहीं चांदी), भोजपुर

प्रकाशन : *'एह देस में', 'रावन अबहीं मरल नइखे', 'गांव बहुते गरम बा', 'हादसा' (भोजपुरी कहानी-संग्रह), 'एक सही निर्णय' (हिंदी कहानी-संग्रह), 'भोजपुरी कहानी : विकास और परंपरा' एवं 'हिंदी लघुकथा : स्वरूप और दिशा.'*

संपादित कृतियां : *'इसी दिन के लिए' (कहानी), 'लघुकथा : सर्जना और मूल्यांकन', 'एक मुट्ठी लाई' (भोजपुरी लघुकथा), 'प्रतिनिधि कहानी भोजपुरी के', 'भोजपुरी के अस्मिता चिंतन', 'समकालीन भोजपुरी कहानियां.' इसके अलावा कथा-पत्रिका 'पुनः' का कई वर्षों से संपादन.*

पुरस्कार-सम्मान : *अखिल भारतीय भोजपुरी साहित्य सम्मेलन द्वारा 'पांडेय जगन्नाथ प्रसाद सिंह' पुरस्कार, साहित्य संसद द्वारा 'फणीश्वरनाथ रेणु शिखर सम्मान', डॉ. परमेश्वर गोयल लघुकथा सम्मान' के अलावा भी कई संस्थाओं द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत.*

जैसा ऊंचा हो गया था. शहर के सभी राजनीति करनेवालों का कद बौना हो गया था. उनकी अगवानी में शहर की गली-कूची तक जवान हो उठी थी. सारे शहर को नयी-नवेली दुल्हन की तरह सजाया गया था. हर चौराहे पर उनकी आरती उतारी गयी थी. उस दिन उन्हें तृप्ति का अहसास हुआ था. वे तस्वीर की ओर देखते हैं. उनके नाक के नथुने गेंदा और गुलाब की सुगंध से भर उठे थे.

अभिनंदन-समारोह से वे थके-हारे सर्किट हाउस लौटे, तो वहां भी लोगों की भीड़ लगी हुई थी. सब लोगों के चेहरों पर खुशी का भाव था. चलो, कम-से-कम अपने जिला-जवार का एक आदमी केंद्र में "कबीना" मंत्री तो बना. बहुत लोग आये-गये पर ठेक तोड़ा भैया जी ने ही. लोगों को ऐसा लगा कि भैया जी अपने जिले के लिए ज़रूर कुछ-न-कुछ करेंगे. सर्किट हाउस के बाहर खड़ी

भीड़ की तरफ उन्होंने मुस्काते हुए एक दृष्टि डाली और दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए भीतर चले गये.

पलंग पर बैठते ही भैया जी चार इंच नीचे धंस गये. सारे बदन में गुदगुदी होने लगी. आंखें मूंद कर वे पलंग में धंस गये. उनकी आंखों के सामने एक साथ कई-कई दृश्य उपस्थित हो गये.

वर्षों पहले की बात है. उस समय रामरतन पांडे, प्रदेश मंत्रिमंडल में राज्य मंत्री थे. जब वे यहां आते, तो भैया जी उनके आगे-पीछे उनकी चमचई में डोलते-फिरते थे. और पांडे इसी गद्दे में धंस अपनी तोंद पर हाथ फेरते हुए आदेश-पर-आदेश देते - "सच्चिदानंद जरा डी. एम. को फोन करो, एस. पी. को बुलाओ," और वे बरसाती मेंढक की तरह इधर से उधर कूदते रहते थे. पांडे को गद्दे में धंसा हुआ देखकर वे सोचते - पता नहीं उनके नसीब में यह सब है या नहीं ? किंतु आज तो स्थिति उल्टी हो गयी है. आज पांडे की ज़गह वे गद्दे में धंसे पड़े हैं. भैया जी आंखें मूंदकर एक बार फिर अतीत की स्मृति में खो जाते हैं. वही शहर, वही सर्किट हाउस. सब कुछ वही है. कुछ नहीं बदला. बदला है तो सिर्फ भैया जी का कद. पहले जब वे आते थे, तो घंटों बाहर प्रतीक्षा करनी पड़ती थी, किंतु अब सब कुछ बदल गया है.

"ट्रीं...ट्रीं...ट्रीं...फोन की घंटी से उनका ध्यान टूटता है. ख़ानसामा फोन लेकर भीतर आता है- सर पांडे जी आपसे मिलना चाहते हैं."

भैया जी मुस्कुराते हुए फोन हाथ में लेते हैं- "हां, हां...पांडे जी, कहिए क्या हाल-चाल हैं ? ठीक से हैं न ? ...क्या कहा? आज मिलना चाहते हैं ? ...ऐसा कीजिए ...आज रात नहीं, कल सबेरे आप नाश्ता मेरे साथ करेंगे ... आज बहुत थक गया हूं." कहते हुए भैया जी ने फोन रख दिया था. यह कल्पना करते हुए रोमांच में उनके रोयें गनगना कर खड़े हो गये, कि कल सुबह वे पलंग में धंसे हां-हूं में ज़वाब देंगे और पांडे सामने की कुर्सी पर बैठ चुपचाप उनकी बात सुनेगा. ठीक ही कहा गया है - कभी गाड़ी पे नाव, कभी नाव पे गाड़ी.

वर्षों पहले की बात याद आती है. क्या नहीं किया उन्होंने पांडे के लिए, लोग उन्हें पांडे का बंधुआ मजदूर कहा करते थे और यह पांडे, पक्का कसाई है, कसाई ! साला न ज़िंदा रहने देता था, न मरने देता था. कभी-कभी पांच सौ ...हजार रुपये धरा देता था. और वे मुरझाये पौधा ऐसा पानी मिलते ही हरिअरा जाते थे. उनको लगता जैसे पांडे जी देवता हैं, देवता ! ...और आज समय पलट गया है. अब पांडे की जगह वे ... छीः ! छीः !! कहां राजा भोज और कहां गंगू तेली. अरे पांडे तो राज्य की राजनीति में हैं, और वे केंद्रीय मंत्रीमंडल में. जहां से देश और देश के लोगों का भाग्य बदला जाता है. फिर दोनों में तुलना क्या ? वो पलंग से उठकर टहलने लगते हैं. सामने लगे आदम कद आईने में अपने को देखते हैं, मुस्कुराते हैं और अपनी अदा पर स्वयं फिदा हो जाते हैं. उनकी आंखों में अपना पहले वाला रूप नाच जाता है. मटमैले रंग का खद्दर का कुर्ता-पैजामा, जिसका निचला हिस्सा धूल में सना चीकट, कहीं-कहीं से फटा भी. हवाई चप्पल, जिसकी एड़ी कटी रहती थी, और बगल में जयप्रकाश झोला टांगे पांडे के सामने हाथ जोड़े याचक की मुद्रा में खड़े ...उनके मुंह से आवाज़ निकली धत्... क्या, क्या सोच गये. वे इतनी ही देर में ? वे आईने की तरफ देखकर मुस्कुराते हैं. ...आखिर पांडे जी उनके राजनीतिक गुरू ठहरे, भले ही आज उनकी स्थिति गुड़ की है और वे चीनी हो गये हैं. तभी आईने की आकृति बोल उठी - 'मूर्ख कहीं के, क्या सोच रहे हो ? राजनीति में कोई गुरू-चेला नहीं होता. जिसकी चलती है वह गुरू होता है. ...जो जीता वही सिकंदर. अब तो तुम गुरू और पांडे चेला.'

-'नहीं, नहीं. ऐसा नहीं हो सकता. पांडे जी ज़मीन के नेता हैं. राजनीति के छंटे हुए खिलाड़ी हैं. यहां की राजनीति में उनको कगरिया कर कुछ नहीं किया जा सकता.'

-'बोका कहीं के. अरे तुम अभी "कबीना" मंत्री हो और वे एक साधारण एम. एल. ए. अब तू गुरू वे चेला. अब समय आ गया है झोला ढुलवाने का. गिड़गिड़ाते हुए याचक मुद्रा में कभी बात नहीं करना. याद करो, यही सर्किट हाउस है ना, जहां पांडे से मुलाकात करने के लिए तुम्हें घंटों बाहर बैठना पड़ता था. क्या सारी बातें भूल गये हो. देखो, मैं जैसा कहता हूं, करो. तुम अब कबीना मंत्री हो. तुम्हरा आचरण साधारण आदमी से अलग होना चाहिए.'

-'किंतु मैं यह सब कैसे करूं इतने दिनों का संबंध है, उसे एक झटके में तोड़ना आसान नहीं है. यह मुझसे नहीं होगा. मुझसे यह बिल्कुल नहीं होगा.'

"मालिक, मालकिनी जी इयाद करत बाड़ी." कदवन की आवाज़ से उनका ध्यान टूटता है. वे सामने पसरे हुए बसंत के आने के पूर्व की, उदासी और सन्नाटे को देखते हैं. अनमने भाव से उठकर भीतर चले जाते हैं.

चंद्रकला देवी यानी भैया जी सच्चिदानंद की धर्मपत्नी, यानी छोटे सरकार की मां. पूजा-गृह के दरवाजे पर हाथ में ताम्र-पात्र में चरणामृत लेकर उनकी राह देख रही हैं. देर होने पर झुंझलाती हैं. उन पर नज़र पड़ते ही कहती हैं -"जल्दी आके चरणामृत लीं. मैयाजी के चरण में माथा टेकी. इनके नूं कृपा बा कि रउवा अइसन आदमी एतना कुछ कर देलस."

वे कुछ नहीं बोलते. चुपचाप बायीं हथेली के ऊपर दायीं हथेली रखकर चरणामृत ले लेते हैं. चरणामृत माथे पर चढ़ाकर आज्ञाकारी बालक की तरह मां के चरणों में माथा टेकते हैं और कनखी से एक बार चंद्रकला देवी की तरफ देखकर मुस्कुराते हैं और बाहर आ जाते हैं.

❐

आदमी जब अकेला होता है, तो दिन पहाड़ हो जाता है - काटे नहीं कटता. पॉवर में थे तो समय गौरैया की तरह कब फुर्र से निकल जाता पता ही नहीं चलता था, किंतु अब तो पल-पल पहाड़ जैसा लगता है. वे ड्राइंग रूम में टहलने लगते हैं. एकाएक उनकी नज़र लीक करते बेसिन पर पड़ती है. वे पी.ए.ई.डी. कार्यालय को फोन मिलाते हैं. लीकेज की शिकायत करते हैं. फोन पर एस.डी.ओ. की बात सुनकर वे आग-बबूला हो उठते हैं. ये ऐरू गैरू भी मुझे फंड की बात सुना रहे हैं. पद पर नहीं रहने का फल है यह. नहीं तो यही सब आगे-पीछे कुत्ते जैसे घेरे रहते थे. मुंह खोलने भर की देर होती थी, घर के सारे नल बदल जाते थे. लोग इसके लिए तरसते थे कि उन्हें भी कुछ काम कहा जाये. आगे-पीछे आवाजाही का मेला लगा रहता था. सब समय का फेर है. समय आने पर सब सालों को उनकी औकात बता दूंगा. यही सब सोचते हुए फोन रखकर वे बाहर आ जाते हैं.

बरामदे में लगी आराम कुर्सी पर वे बैठ जाते हैं. बरामदे में सन्नाटे का राज है. कहीं कोई चिरई का पूत तक नज़र नहीं आता. सामने कोलतार की सड़क काली नागिन जैसी पसरी पड़ी है ...सुनसान. कहीं कुछ नज़र नहीं आता सिवाय सड़क के किनारे खड़े पत्रहीन नग्न गाछ के, और पेड़ से झड़े पत्ते, जो आवारा की तरह इधर-उधर घूमते नज़र आते हैं. उन्हें याद आ रहा है अभी जिस संगमरमरी फर्श पर वे बैठे हैं वह उस समय कच्चा था. उनके मंत्री बनने के तुरंत बाद पता नहीं कौन-सा करिश्मा हुआ कि देखते-देखते कच्चे मकान की ज़गह तीन मंजिला अत्याधुनिक महल खड़ा हो गया. उस समय यहां मेला लगा रहता था. पी. डब्लू. डी. के चीफ इंजीनियर से लगाकर सारे लोग आगे-पीछे करते रहते थे. दिन-दिन भर घर के नक्शे को लेकर बातचीत होती. कभी कोई अपनी राय देता, तो कभी कोई. नक्शा बनता था और रिजेक्ट होता था. आखिर नक्शा फाइनल बना. घर भी बना, किंतु मन की मन में ही रह गयी. जब नक्शा फाइनल बना था, उसमें सामने वाले शाह जी के घर को समेट लिया गया था. उस ज़मीन पर छोटा पार्क और स्वीमिंग पूल बनाने की योजना थी. उन्हें याद आता है, जब उन्होंने यह बात अपनी पत्नी को बतायी थी, तो शरमाते-सकुचाते आंचल के कोर को मुंह में दबाये उन्होंने कहा था -"ई सब रउवे समझीं. हमरा का बुझाई. हमरा त बाग-बगइचा चाहीं, फूल पत्ती चाहीं, आ सबसे ज़रूरी बात, घर में एगो पूजा-घर ज़रूर चाहीं. अउर जे रउरा अच्छा लागे."

उनकी बात सुनकर उन्होने चीफ इंजीनियर वर्मा से कहा था -"भाई, घर में सुंदर पूजा-गृह के साथ गृहवाटिका भी हो, तो सोने में सुहागा."

उनके इच्छानुसार चीफ इंजीनियर वर्मा ने मातहतों को आदेश दिया था और आनन-फानन में नक्शा तैयार हो गया था, किंतु सबसे अहम् सवाल था ज़मीन का. सामने सरकारी ज़मीन और शहर की मुख्य सड़क थी. दाहिनी तरफ भैया जी की बिरादरी के एक दबंग जमींदार परिवार का मकान था. ले-दे कर बायीं तरफ शाह जी की ज़मीन बचती थी, जिसके मिलने पर मन के अनुसार सब कुछ हो सकता था. किंतु सवाल था ज़मीन मिले तो कैसे ? इसी चिंता ने भैया जी को बेचैन कर रखा था. चमचों की भीड़ में से किसी ने कहा था, "सर, आप हुकुम करीं. सहुआ को शहर में रहना है कि नहीं. सारे जल में रह कर कब तक मगर से बैर करेंगे." उन्हें याद आता है उन्होंने शांत आवाज़ में उसे डांटा था -"भाई, अगर मैं ही ऐसा आचरण करने लगूं तो आम आदमी क्या सोचेगा. ठीक है साहजी से बात करूंगा. मुंह मांगी कीमत दूंगा." और उन्होंने वर्मा को काम शुरू करने का आदेश दे दिया था. भैया जी से उस दिन भारी चूक हो गयी थी. वह चूक ज़िंदगी भर जटही के कांटे जैसी चुभ रही थी. आज सीधे लोगों का ज़माना नहीं है. उस दिन जोर जबर्दस्ती से ज़मीन हथिया ली जाती तो पछताना नहीं पड़ता. उनकी दृष्टि सामने के पार्क पर जाकर ठहर जाती है, जिसमें स्वीमिंग पूल और फूलों से भरे पार्क का नक्शा उनकी आंखों में तैर जाता है. वे उदास मन से उठकर ड्राइंग रूम के भीतर चले जाते हैं.

ट्रीं...ट्रीं...ट्रीं...

"हॅलो -हॅलो... हां, हां. कहो क्या बात है. देखो फोन तो कर दिया है. ...रंग अच्छा नहीं लग रहा है. सारे लोग कन्नी काट कर निकल जा रहे हैं. अब तो लोग इग्नोर भी करने लगे हैं. तुम लोगों को भी वक़्त की नज़ाकत को समझना चाहिए. समय बदल गया है, जो पहले सियार जैसा पूंछ सटकाकर सामने खड़ा होता था, वह आज शेर की तरह बतियाता है. ...देखो बेटे ...एक बात सुनो. तू भी प्रैक्टिकल बनो. बिजनेस करना है, तो प्रैक्टिकल बनना होगा. अपने स्तर से कुछ घटा-बढा कर सेटेल कर लो. समझा ना. ...हां अब मैं रख रहा हूं. ...अच्छा एक बात और सुनो. सब कुछ सेटेल हो जाने पर फोन कर देना. और ठीक है." -कहते उन्होंने फोन रख दिया.

भैया जी अकेले सोफे पर बैठे हैं. सन्नाटा उनके चारों तरफ पसरा हुआ था. आखिर करें भी क्या ? इतने बड़े घर में मात्र दो प्राणी और नौकर. अब यह घर भूत बंगला हो गया है. काटने दौड़ता है. कोई किसी से नहीं बोलता. चंद्रकला देवी का ज्यादा समय पूजा-गृह में ही कट जाता है. उसके बाद का समय किचन में. और फिर उनसे वे क्या बतिआते. वह तो गाय हैं. छव-पांच तक नहीं जानतीं. जो सोचती हैं सीधे कह देती हैं. पहले तो घर भरा-पूरा रहता था किंतु अब इस छोटे शहर में किसी का मन नहीं लगता. बड़ी पतोहू बाल-बच्चों के साथ दिल्ली रहती है. कभी-कभार छुट्टी में बच्चों के साथ आती है. आने पर कहती है -"बाबूजी, आप यहां बेकार में पड़े रहते हैं. दिल्ली चलें. वह देश की राजधानी है. वहां रहने पर आदमी मेन स्ट्रीम में रहता है. जो मेन स्ट्रीम से कट जाता है, समझिए ज़िंदगी से कट गया."

पतोहू की याद आते ही उनकी आंखों में दिल्ली का शानदार बंगला, चहल-पहल और लोगों की भीड़ नाच जाती है. मिलने वालों का तांता तो सुबह से ही लग जाता था. सुबह तैयार होकर जब वे कार्यालय में बैठते थे, तो फुर्सत नहीं मिलती थी. लोग आते, पैर छूकर आशीर्वाद लेते, अपना दुःख-दर्द कहते और आश्वासन की सौगात लेकर लौट जाते. उसी में कभी-कभी किसी जात-बिरादर का काम हो जाता था. अब तो कोई नहीं आता. भूले भटके भी नहीं. और सही बात है, लोग इधर आवें क्यों ? यहां आने से कोई फायदा भी तो नहीं है, सिवाय समय बर्बाद करने के. पहले तो पार्टी के लोग आते-जाते भी थे. अब वे भी इधर का रुख नहीं करते. आखिर उनकी पार्टी विपक्ष की सबसे बड़ी पार्टी तो है ही. उन्हें याद आ रहा है ... यह घर, जिसके ड्राइंग रूम वे बैठे हैं कैसे आनन-फानन में बनकर तैयार हो गया इसका उन्हें अहसास तक नहीं हो पाया था. किसी ने छर्री-बालू, किसी ने सीमेंट-छड़ का जुगाड़ कर दिया था और सरकारी इंजीनियर तो जैसे बंधुआ मजदूर ही थे. उनको तो कुछ पता नही चला मकान कैसे बना. इसका पूरा कमान तो छोटे सरकार सम्हाल रहे थे. वे तो माटी के महादेव की तरह चुपचाप बैठे सब कुछ देखते रहते थे. --है कोई माय का लाल, जो कह दे कि अपना काम कराने के लिए उसने भैया जी को पैसा दिया हो. यही सब सोचते हुए भैया जी बेचैन बरामदे में टहल रहे थे.

आज सुबह से उनकी बेचैनी बहुत बढ़ गयी थी और यह हर वर्ष होता है. जब-जब मई की सत्ताइस तारीख आती है, वे बेचैन हो उठते हैं. उनको लगता है जैसे कोई कलेजे को बेध रहा है. आज सुबह से सामने वाले पार्क में चहल-पहल बढ़ गयी है. पार्क की सफाई, रंगाई-पुताई हो रही है. झंडी-पताका से सजाया जा रहा है. लाउडस्पीकर बज रहा है. लाउडस्पीकर के भोंपू का मुंह जान-बूझ कर उनके बंगले की ओर कर दिया जाता है. यह सब जान-बूझ कर विरोधी पार्टी के लोग उन्हें चिढ़ाने के लिए करते हैं. अरे भाई आदमी किसी की पुण्य-तिथि तो उसकी याद में मनाता है. हंगामा शोभा नहीं देता. कहां गांधी समाधि पर हंगामा होता है ? किंतु ये सब उन्हें जलाने के लिए, कष्ट पहुंचाने के लिए किया जाता है.

वे एक बार फिर अपनी पुरानी ज़िंदगी में लौट जाते हैं. हड़ताल, पिकेटिंग, धरना और सरकार का विरोध करना तो आम बात हो गयी थी. कितने लोग मारे गये. कितनों ने प्राणों की आहुतियां दीं, कोई गिनती नहीं है, और न किसी का शहादत दिवस मनाया जाता है. कौन याद करता है किसी को ? किंतु उन्हें जलाने के लिए ये जलसा हर साल आयोजित किया जाता है. माईक की आवाज़ से उनका ध्यान टूटता है -"भाइयों, आज कामरेड सुधीर शाह का शहादत दिवस है. आप लोगों से अपील है कि हजारों

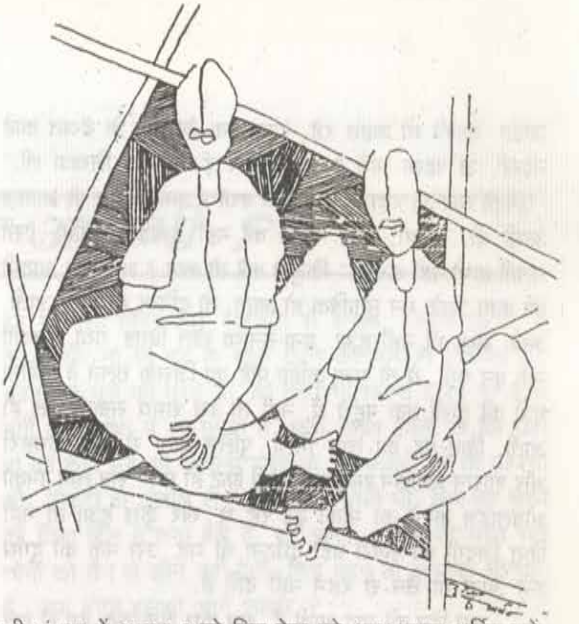

की संख्या में आकर अपने प्रिय नेता को श्रद्धा-सुमन अर्पित करें. कामरेड की शहादत को व्यर्थ न जाने दें. कामरेड ने अपनी शहादत देकर समाज के दबे-कुचले लोगों को अपने हक के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी है. आज हमें एकजुट होकर उन ताकतों का विरोध करना है, जो सामंती ताकतों के साथ मिलकर हमें तंग करती हैं. हमारी ज़मीन पर ताकत के बल पर कब्जा कर लेती हैं. उनके विषैले दांतों को तोड़ना है. कामरेड की शहादत को व्यर्थ नहीं जाने देना है. आप लोगों से अपील है कि ज्यादा से ज्यादा संख्या में आकर समारोह को सफल बनायें." और फिर लाउडस्पीकर पर सिनेमा का गीत बजने लगता है.

लाउडस्पीकर की आवाज़ से उनकी बेचैनी और बढ़ जाती है. आज जो देखना पड़ रहा है, वह उनकी ही करनी का फल हां. उस समय अगर यह ज़मीन कब्जा कर लेते तो स्मारक की ज़गह पर सुंदर पार्क और स्वीमिंग पूल होता. वे अपनी बेवकूफी पर पछताते, बेचैनी में इधर-उधर टहल रहे थे. उस समय की बात याद आती है. उस समय उनके पास सब कुछ था. सरकार अपनी थी. धन-जन, बल सब कुछ था. किंतु पता नहीं क्यों उनका मन तैयार नहीं था. सहुआ को देखकर उन्हें अपनी पिछली ज़िंदगी याद आ जाती है और उनका कलेजा कांप उठता था. नहीं, नहीं. यह जघन्य अपराध उनसे नहीं हो सकता. बेटे जवान है. उन्हें कुछ समझ में नहीं आता. तो क्या उन्हें भी कोई समझ नहीं है. इन्होंने तो गरीबी नहीं देखी है. निर्बल की आह से आदमी जलकर ख़ाक हो जाता है. उन्होंने अपने बेटों को बुलाकर डांटा था. बात आयी गयी हो गयी. घर का नक्शा भी नहीं बदला. घर उसी नक्शे के मुताबिक बनना शुरू हुआ. बीच-बीच में चंद्रकला देवी टोंकती- "सहुआ से कह-सुन कर जमीनवा लिखवा लेतीं, त कितना बढ़ियां होईत. सुघर फुलवारी आ कादो कहीला - सीमींग पूल उहो बन

जाइत. बड़की भी कहत रहे. रउवा एक बेर कह के देखत काहे नइखीं. जे पइसा मांगे दे दीं. बाकिर ई जमीनवां लिखवा लीं." - उनको याद आ रहा है, पता नहीं क्यों ? उनके भीतर से आवाज़ आयी थी. -"नहीं, नहीं. गरीब को नहीं उजाड़ना चाहिए. ऐसी ग़लती कभी नहीं करना." किंतु वे करें तो क्या ? अगर हर आदमी का काम उसके मन मुताबिक हो जाता, तो दुनिया स्वर्ग बन जाती. उनके साथ भी नहीं हुआ. बना-बनाया खेल बिगड़ गया. ज़िंदगी नर्क बन गयी. ये तो भला कहिए पांडे का जिसके चलते वे कबीना मंत्री की कुर्सी तक पहुंचे थे, नहीं तो उस समय सबको जेल हो जाती, किंतु पद का लाभ मिला. पुलिस-थाना से कोर्ट-कचहरी और शासन-प्रशासन सब ज़गह गोटी फिट हो गयी. सब लोग उनको ओबलाइज करने का मौका ढूंढ़ रहे थे. खैर कुछ हुआ तो नहीं किंतु ज़िंदगी की सबसे बड़ी दुर्घटना थी यह. उस नर्क की दुर्गंध उन्हें आज भी चैन से रहने नहीं देती है.

उस दिन की याद आती है. सब कुछ ठीक-ठक ढंग से चल रहा था. उनको यह अंदाज़ तक नहीं था कि, इतनी बड़ी दुर्घटना हो सकती है. बेटों की खिचड़ी अलग पक रही थी. लोग सहुआ की ज़मीन कब्जिआने की जुगत भिड़ा रहे थे. वे जानते तो शायद यह दुर्घटना नहीं घटती, किंतु विधाता के लिखे को कौन मेट सकता है. गधबेर हो रहा था. वे सामने बरामदे में आराम कुर्सी पर बैठे थे. कुछ लोग अगल-बगल की कुर्सी पर बैठे गप कर रहे थे, कुछ लोग पैरवी के लिए बैठे थे. इसी बीच सहुआ के घर से चीखने-चिल्लाने के साथ गोली चलने की आवाज़ ने पूरे माहौल को दहशत से भर दिया था. सब लोग हड़बड़ाकर उठ गये थे. लोगों ने देखा कुछ हथियारबंद लोग जीप पर सवार होकर शहर की बाहर की ओर भागे. देखते-देखते माहौल बिगड़ गया था. सहुआ के घर में रोहा रोहट पड़ गया था. वे अपने दरवाज़े पर अवाक खड़े थे.

देखते-देखते वह घटना आग की लुत्ती अस पूरे शहर में फैल गयी थी. लोग सहुआ को टांग कर अस्पताल ले गये थे. पूरा अस्पताल ज़िंदाबाद-मुर्दाबाद के नारों में डूब गया था. भीड़ को काबू में करने के लिए पुलिस आ गयी थी. लोग नारे लगा रहे थे.-"कामरेड सुधीर के हत्यारों को गिरफ़्तार करो. उन्हें जेल भेजो." घटना के तुरंत बाद वे भी अस्पताल गये थे. उनके अस्पताल पहुंचते ही खुसुर-फुसुर शुरू हो गयी थी. उन्होंने लोगों को शांत कराते हुए कहा था -"आप लोग धैर्य रखें. हत्यारे को चौबीस घंटे के भीतर सजा दी जायेगी." यह कहते हुए वे वार्ड के भीतर घुस गये थे. भीतर पहुंचते ही सारे लोग उनके इर्द-गिर्द जमा हो गये थे. उन्होंने साहजी और उनकी पतोहू को सांत्वना दी. किंतु उनके मन में तूफान मचा हुआ था. कहीं इसमें बिरजू और छोटे का ही तो हाथ नहीं है ? नहीं, नहीं. ऐसा नहीं हो सकता. तभी उनकी नज़र होश में आते सुधीर की आंखों से टकराई. वे कुछ कहना चाह रहे थे, किंतु सुधीर की आंखों से निकलती घृणा की चिंगारी ने उन्हें झुलसा दिया था. उनके लिए वहां खड़ा रहना पल-पल भारी हो रहा था. वातावरण में उनके खिलाफ़ माहौल गरमाने लगा था. स्थिति की नज़ाकत को देखते हुए वे डॉक्टरों को हिदायत देकर वहां से खिसक गये थे.

सुधीर को मुंह फेरते उसकी औरत ने देखा तो उसके भीतर शंकाओं के सांप ने फन उठाया. कहीं इस घटना में इन्हीं का तो हाथ नहीं है और अब आये हैं मरहम-पट्टी करने. सुधीर के होश में आने पर उसने पूछने की कोशिश की, किंतु वह कुछ कह नहीं पाया. पुलिस बयान लेना चाहती थी, किंतु वह बोलने से लाचार था. उसकी हालत बिगड़ती जा रही थी. आखरी बार जब वह होश में आया, तो वह अपनी औरत की तरफ देखते हुए टूटी-फूटी आवाज़ में इतना ही कह पाया था... "ज़मीन...म...त...बेच... और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये थे."

सुधीर की मौत से सारे शहर का वातावरण बदल गया था. जन-संगठन की तरफ से कलक्टर के यहां लोग जुलूस लेकर गये थे. हत्यारों को पकड़ने के लिए मांग की गयी, किंतु नतीज़ा निकला ढाक के तीन पात. जुलूस के साथ कामरेड सुधीर की पत्नी भी थी. आखिर में जब अंतिम दर्शन के लिए कामरेड सुधीर की लाश उसके दरवाज़े पर रखी गयी तो उसकी पत्नी ने कहा -मैं अपनी ज़मीन अपने पति की याद में पार्क बनाने के लिए दान में दे रही हूं. पार्क में उनकी मूर्ति लगाने का पूरा खर्च मैं दूंगी. सुधीर की पत्नी की इस घोषणा ने पूरे माहौल को बदल दिया था.

- आज कामरेड सुधीर शाह की पुण्यतिथि है. इस पार्क में हर साल मनायी जाती है. लाउडस्पीकर पर भाषण होता है. सुधीर की पुण्यतिथि हर साल उनके दिल के सूखे घावों को हरा कर जाती है.

लाउडस्पीकर की आवाज़ से उनका ध्यान टूटता है. वे सोचने लगते हैं. विचारों के समुद्र में वे डूबने-उतराने लगते हैं. सामने पार्क में लगी कामरेड सुधीर शाह की मूर्ति लगता है, जैसे मुंह बिरा रही है. उन्हें लगता है यह मूर्ति पार्क में नहीं उनके कलेजे पर खड़ी है. वे कसमसा कर रह जाते हैं. कामरेड सुधीर शाह की हत्या इनकी ज़िंदगी की चादर पर बदनुमा दाग़ बन कर पसर गयी थी. यह उनकी ज़िंदगी का सबसे बड़ा हादसा था, जो जटही के कांटे की तरह गड़ता है. लाउडस्पीकर पर सुधीर की प्रशस्ति गायी जा रही है. लगता है जैसे उनके कान में कोई पिघला हुआ गर्म सीसा उडेल गया है. वे उठकर बेचैनी में टहलने लगते हैं. वे मन को जितना ही चिंता मुक्त करना चाहते हैं, सुधीर शाह का भूत पीछा करता है. वे उठकर भीतर ड्राइंग रूम में चले जाते हैं. कसकर दरवाज़ा बंद करते हैं. बाहर फिर सन्नाटा पसर गया था, जैसे उस हादसे के बाद हुआ था.

संपादक - 'पुनः,' पथ सं.-आठ बी, अशोक नगर, कंकड़बाग, पटना - ८०० ०२०

कहानी

मां, मुनु कब आयेगी ?

सारे घर में हलचल है. नाते-रिश्तेदार, मिठाई-पकवान दरी-शामियानें, गाना-बजाना सभी कुछ तो है, फिर उसके लिए खुशी क्यों न हो.

"बेटा चंदन, मुनु की शादी होने वाली है. उसमें खूब काम करना और लोगों के साथ अच्छे से बात करना भला." मां पिछले कुछ दिनों में न जाने कितनी बार समझा चुकी है उसे.

"भला इसमें न समझने वाली कौन सी बात है. छोटी बहन की शादी हो और वह काम न करे ऐसा हो सकता है ? फिर मां बार-बार ऐसा क्यों बोलती है ?"- चंदन ने सोचा. पड़ोस में ही तो गीतू रहती है. उसकी गुड़िया की शादी में भी हर बार वह कितना काम करता है. गीतू हर दस-पंद्रह दिनों में अपनी गुड़िया की शादी रचाती और उसमें चंदन भैया को ज़रूर बुलाती. गुड़िया की गाड़ी खींचने से लेकर पंडित बनने तक का सारा काम चंदन भैया के जिम्मे रहता. चंदन भैया बड़े हुए तो क्या हुआ, सभी बच्चों के लिए वह विशेष स्नेह के पात्र हैं. मानसिक विकास ही तो मंद रह गया है, अन्यथा उस जैसे भरे पूरे युवक को देखकर कोई भी कामिनी उस पर मर मिटे.

चंदन और मुनु में उम्र के हिसाब से केवल तीन वर्ष का अंतर है. यूं तो चंदन मुनु से बड़ा है. पर मानसिक आयु में वह मुनु से पंद्रह वर्ष छोटा है. बस चार-पांच साल के बच्चे जैसे मानसिक विकास वाले चंदन की मुनु ही सर्वस्व है. जबसे मुनु ने होश संभाला, चंदन भैया को अपने ऊपर आश्रित ही पाया. नहलाने धुलाने से लेकर खिलाने-पिलाने तक के भैया के सभी कार्य छोटी होकर भी बड़ी बहन या मां के रूप में सहजता से करती आयी है वह. बड़े भाई की बातें, उसकी आवश्यकताएं, उसका अभिमान और उसकी जिद सभी कुछ तो उसके कहने से पहले ही समझ जाती है वह. चंदन भी मुनु का अनुगामी है. सारा दिन उसे मुनु चाहिए. यहां तक कि छुटपन में मुनु ने जब स्कूल जाना प्रारंभ किया तो वह भी उसके साथ जाने को तैयार हो जाता. वहां वह मुनु की सहेलियों के साथ बराबरी के साथ खेलता, रूठता और खुश होता. मुनु की बड़ी कोशिशों के बाद उसने थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना भी सीख लिया था. बड़ी कक्षाओं में जाने के बाद मुनु ने चंदन को साथ ले जाना बंद कर दिया था. परंतु पढ़ाई कराना, कहानी सुनाना, खाना खिलाना, नहाने के बाद भैया को तैयार कर देना और इसी तरह की छोटी- छोटी अन्य सभी ज़रूरतों को पूरा करना वह कॉलेज की पढ़ाई करते हुए भी उसी निष्ठा और सहजता से करती, जितना छुटपन में करती थी. मां भी मुनु के रहते चंदन की ओर से निश्चिंत थी. चंदन एक चूजे की तरह था, जो कहीं भी ख़तरा देखने पर सीधे मुर्गी के आगोश में जा छुपता है. फ़र्क केवल इतना था कि यहां मां का काम मुनु को निभाना होता था. मां बेचारी को तो गृहस्थी और नौकरी के जंजाल से ही मुक्ति न मिलती थी. फिर वह चंदन की चिंता दिल में लगा बैठी है, सो अलग. दुनिया तो अच्छे भले लोगों को चैन से जीने नहीं देती, फिर चंदन तो सामान्य भी नहीं है. क्या होगा इसका आगे जाकर ?

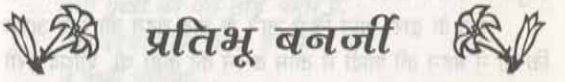

शादी का मंडप सजा और गहमा-गहमी प्रारंभ हो गयी. शादी की इस गहमा-गहमी में चंदन सारे समय यहां से वहां प्रफुल्लचित्त घूमता-खेलता रहा. उपस्थित लोगों में से कुछ ने युवक चंदन के बालकोचित व्यवहार पर सहानुभूति जतायी तो कुछ ने उसकी बातों और हरकतों से रस लिया. सहानुभूति और व्यंग्य के झमेले से दूर वह तो अलमस्त था, परंतु मां के ममता भरे हृदय पर ये सहानुभूति व व्यंग्य नश्तर की तरह चुभे. वह तड़प उठी. उसने चंदन को अपने पास बुला लाने के लिए एक बच्चे को भेजा. सजे-धजे शामियाने तले चंदन बच्चों के साथ धमा-चौकड़ी मचाने में व्यस्त था. वह मां के पास न गया. मां परेशान हो उठी. उसने फिर बुलावा भेजा, पर चंदन ने उस बुलावे पर कान नहीं धरा. आखिरकार मां ने उसे बुला लाने को मुनु की एक सहेली को विशेष रूप से शामियाने तले भेजा.

मुनु की सहेली ने शामियाने तले जा कर चंदन के साथ खेल रहे बच्चों को पहले तो हल्की सी डपट लगायी और फिर चंदन का हाथ पकड़ते हुए बोली -"चंदन भैया अब खेल बंद करो. चलो तुम्हें कब से मां बुला रही है."

चंदन के आनंद में व्यवधान पड़ा. साथ खेल रहे बच्चे तितर-बितर हो गये. चंदन झुंझला उठा -"मां, मुझे ही बार-बार क्यों बुलाती और खेलने से रोकती है ? आखिर इतने बच्चे हैं, उन्हें तो कोई कुछ नहीं कहता. गुड़िया, गीतू, राजा, पप्पू किसी की मां तो उन्हें बार-बार बुलाने लोग नहीं भेजती. जाओ मैं नहीं जाता मां के पास."

गुस्से से उसने अपना हाथ मुनु की सहेली के हाथ से छुड़ाया और मुनु के कमरे की ओर चल दिया. हर्ष, शोक, दुःख जैसे हर मनोभाव को प्रकट करने के लिए उसे मुनु की ज़रूरत पड़ती थी. क्रोध के आवेग में भी उसे मुनु का अवलंबन चाहिए. हल्दी लगी देह व मेंहदी लगे हाथों को लेकर मुनु बैठी थी. उसके सामने चंदन के मन का गुबार निकला. अपनी मुनु की शादी में वह आनंद नहीं मनायेगा, अपने उल्लास को अभिव्यक्त नहीं करेगा तो भला फिर कब करेगा ? पता नहीं मां उसे ही क्यों टोकती है, जबकि इतने बच्चे खेल रहे हैं.

मुनु ने भैया को शांत किया. उसे पता था वह किस प्रकार मानेगा. उसके बहलाने-फुसलाने पर चंदन तो शांत हो गया, पर खुद वह उद्विग्न हो उठी. उसके देह की हल्दी ने मन पर भी अवसाद का पीत दाग़ लगा दिया था, "हे भगवान, क्या होगा. भैया का मेरे जाने के बाद ?" उसकी आंखों के कोरों से ढलके अश्रुकणों ने मन पर लगे दाग़ को धोने का असफल प्रयास किया था.

मुनु के द्वारा शांत किये जाने के बाद चंदन को याद आया कि मां ने बहन की शादी में काम करने को कहा था. शायद इसी कारण वह बार-बार मुझे याद करती होगी - वह खुद से बोल उठा. फिर वह मुनु के पास से उठकर मां के पास काम करने जा पहुंचा. मां मिठाई बनाने को लगाये गये हलवाई को सामान निकाल कर दे रही थी. उसने चंदन को देखा तो उसकी व्यग्रता कुछ कम हुई. चंदन पास ही रखे पीढ़े पर बैठ गया.

"मां, मुनु की शादी में कितना मज़ा आ रहा है न. तू तो कहती थी कि वह दुलहन बनेगी. पर वह तो गंदा सा कपड़ा पहने कमरे में बैठी है. मां, मुनु दुलहन कब बनेगी ?"

"बनेगी बेटा, वह दुलहन भी बनेगी और खूब सजेगी. तू कुछ खायेगा बेटा." - मां का वात्सल्य उमड़ा.

"नहीं मां, नहीं खाऊंगा. मां, तूने मुझे मुनु की शादी में काम करने को कहा था. बोल तो मैं क्या काम करूं ?"-चंदन सहज भाव से बोला.

उसकी बातें सुनते ही मां की आंखें छलछला उठीं. अंतर चीत्कार कर उठा -"मेरे निगोड़े, अब काम पूछ रहा है. उस बेचारी ने तो अपनी शादी का सारा काम खुद ही कर लिया. जवान बड़े भाई के होते हुए किसी लड़की को अपनी शादी का इंतज़ाम खुद करना पड़े, हे भगवान ऐसा दिन किसी को न दिखा."

परंतु अंतर के क्रंदन को मां ने बाहर निकलने न दिया. ममता के आंचल से छलछला उठे आंसुओं को पोंछते हुए उसने प्रयासपूर्वक मुस्कुरा कर चंदन से कहा - "जा पानी तो पिला, मुझे बड़ी प्यास लगी है. कितना काम करता है मेरा राजा बेटा."

चंदन हाथ धोकर पानी ले आया. पीने का पानी निकालने व खाना खाने से पहले हाथ धोना मुनु ने परिश्रमपूर्वक सिखलाया था उसे. पानी पीकर तृप्त मां अन्य कामों में उलझ गयी. चंदन कुछ देर तो यहां-वहां करता रहा फिर वापस धमा-चौकड़ी मनाने चल दिया.

शादी की रात मुनु दुलहन के रूप में सजी. चंदन भी सज-धज कर तैयार हुआ. ''मुनु की शादी में तो गीतू की गुड़िया से भी ज्यादा मज़ा आ रहा है." वह चहका. उसके उल्लास को देखकर मुनु रो उठी. चंदन भैया उसके जीवन का हिस्सा है. कैसे रहेगी बिना उसके वह. शादी तय होने से पहले उसने बार-बार इन्कार किया था शादी करने से. मां बेटी की व्यथा समझती थी किंतु विवाह एक अनिवार्यता है. फिर जवान बेटी कितने दिनों तक घर में बैठा कर रखी जा सकती है.

मां की अश्रुसिक्त मनुहार के सामने मुनु को मानना ही पड़ा था. पर नवजीवन प्रवेश के आनंद की रिमझिम फुहार में भींगने को उसका मन दूर तक तैयार न था और न अब तक हो पाया है. शादी तय हो जाने के बाद से जितनी बार वह भैया को उसके काम में सहायता करती, उतनी ही बार रूलाई का आवेग अंदर फूट कर बाहर निकल पड़ना चाहता. ...काश वह लड़का होती. तब इस तरह भैया को छोड़ पराये घर न जाना पड़ता.

जन्म : २७ अगस्त १९६३

शिक्षा : बी. एस-सी. (गणित), एम. ए. (हिंदी), सी. ए. आई. आई. बी.

सृजन / प्रकाशन : विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में आधा दर्जन कहानियां प्रकाशित तथा आकाशवाणी से एक दर्जन कहानियों का प्रसारण. किशोर बच्चों के लिए एक लघु उपन्यास 'तपन सर्कसवाला' प्रकाशित. मध्य भारत के प्रसिद्ध तीर्थ 'अमरकंटक' पर एक विशद पुस्तिका 'पावन तीर्थ अमरकंटक' का लेखन.
यूनियन बैंक ऑफ इंडिया की 'मौलिक पुस्तक लेखन योजना' के अंतर्गत 'ग्रामीण विकास एवं विकासमान बैंकिंग' विषय पर पुस्तक लेखन.

संप्रति : यूनियन बैंक ऑफ इंडिया, बुढ़ार में अधिकारी.

शादी की रात जाते-जाते मुनु को भी अपने साथ ले गयी. बाजें-गाजे सब शांत हो गये. घर की चहल-पहल वीरानी में बदल गयी. उदास-सी सुबह हुई. कई दिनों की थकी-हारी मां बाकी बचे कामों को समेटने में लग गयी. मेहमानों को भी बारी-बारी विदा करना था. थोड़ी देर में चंदन सो कर उठा. उसका यह प्रभात मुनु के बिना आया. सालों से जिन हाथों ने उसके सहायक की भूमिका निभायी थी, वे आज न थे.

"मां, मुनु कहां गयी है ?" कुछ ही देर में चंदन घबरा उठा था.

"चंदन, मुनु तो बेटा ससुराल चली गयी है अपने दूल्हे के साथ. उसके दूल्हे ने रात को तुझसे बातें भी की थीं. कैसा लगा मुनु का दूल्हा तुझे ?" - मां के स्वर में बेटी के लिए ममता और मीठी यादों की कसक दोनों थीं.

मां का उत्तर पा चंदन खिल उठा -अच्छा तो यह बिलकुल गीतू की गुड़िया की शादी जैसा हुआ. उसकी गुड़िया को उसकी सहेली का गुड्डा-दूल्हा ले जाता है. - "मां, मुनु का दूल्हा कितना सुंदर है न."

मां की बातों से खुश होकर चंदन अपने कामों को निपटाने चला तो आया पर उसकी खुशी अधिक देर तक न रही. इतने सालों से उसे मुनु पर निर्भर रहने की आदत थी. हर काम वह मुनु के निर्देशानुसार करता था. अब वह अपने काम किस प्रकार करे ! कुछ देर प्रयास करने के बाद उसने मां को पुकारा. मां व्यस्त थी. फिर भी वह आयी. किंतु इस कार्य का उसे अभ्यास न था. मुनु के रहते उसे चंदन की ओर देखने की कभी ज़रूरत ही न पड़ी थी. वह हांफ उठी. घर में आये मेहमानों ने भी अपने तरह से चंदन की सहायता की. पर मुनु की तरह कोई नहीं कर पाया. चंदन असंतुष्ट हुआ.

दो दिन बीते. सभी मेहमान अपने-अपने घरों को लौट गये. शादी का सारा जंजाल सिमट गया. मां नौकरी पर जाने की तैयारी करने लगी. घर में अकेला बैठा चंदन मुनु के बिना अस्तित्वहीन हो उठा. उसके बिना कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा. समय काटे नहीं कटता.

अपने आस-पास डोल कर बार-बार मुनु को तलाशते नासमझ बेटे की व्यथा ने मां को भी व्यथित कर दिया. मां इस बात से चिंतित हो उठी कि मुनु के बिना चंदन कहीं अपने आपको असहाय, उपेक्षित और असुरक्षित महसूस न करने लगे. उसने बेटे को समझाने-बुझाने के सारे जतन कर डाले. पर समझना क्या इतना आसान है चंदन के लिए. बहुत पीड़ादेय है मुनु का चले जाना. मुनु की याद दिल में नासूर-सी बन गयी है.

सुबह नौकरी पर जाने से पहले मां ने चंदन को मुनु के लिए बैठा पाया, तो वह खीझ उठी- "अरे बावरे, मुनु ससुराल चली गयी है. उस पराई का मोह छोड़. चल अपने हाथों से अपना काम कर. ज़रूरत हो तो मुझे बुला ले. इस तरह बैठने से कैसे चलेगा भला !"

मां के खीझने से चंदन उठा तो पर अनमना-सा. उसे अपने काम निपटाने के लिए उठता देख मां भी नौकरी पर जाने के लिए निकल पड़ी. मां के साथ बेटे के प्रति चिंता व नाना परेशानियां भी दफ़्तर तक गयीं. - कैसे भूलेगा बेटा मुनु को ?

शाम को मां काम पर से लौटी तो चंदन अकेले घर के एक कोने में बैठा रो रहा था. मां ने पास पहुंचकर जैसे ही उसके सिर पर हाथ फेरा, वह बिलख उठा. उसके भीतर का दर्द पिघल कर बाहर आ गया - "मां, मुनु क्यों नहीं आती ? गीतू की गुड़िया तो शादी के दूसरे ही दिन घर लौट आती है ? मेरी मुनु तो अभी तक नहीं आयी ? मेरी मुनु कब आयेगी मां ? बोल न मेरी मुनु कब आयेगी ?"

यूनियन बैंक ऑफ इंडिया, बुढ़ार,
जिला - शहडोल (म. प्र.) ४८४ ११०

नन्हीं पत्तियों से

✍ जगदीश खरे

तमतमाये सूरज ने
क्षितिज को डांटा -
नंगी तपती चट्टानों के बीच
हरी दूब की इन बेअदब पत्तियों को देखो,
मेरे तमाम ताप-राज के खिलाफ़
कैसे सर उठाये हैं ?

क्षितिज हंसा -
उजास के होंठ फैल गये.
उत्तर दिया -
अंकुर जब सारी विरुद्ध ताकत के खिलाफ़
कसमसाता है
तभी पृथ्वी की पर्तें तोड़ पाता है,
और उद्घोष कर पाता है जीवन का.
ये नन्हीं पत्तियां,
क्रांति की हरी बिगुल हैं मित्र,
किसी बड़े वंसत की संभावनाएं हैं
इसलिए हे सवित !
क्रोध छोड़ो, मन को आर्द्र करो,
बादलों को बुला लाओ.
अन्नशिल्पियों के हाथ हलों की मूंठ पर हैं.

सिविल लाइन्स न. २, सुल्तानपुर (उ. प्र.)

कहानी

मैकी

आज सुबह से ही मन बड़ा उदास था. किसी काम में मन ही नहीं लग रहा था. वातावरण भी बोझिल सा लग रहा था. यद्यपि अभी चार दिन पहले ही तो दीपावली का त्योहार था. घर में आये मेहमानों ने बड़ी रौनक कर दी. बच्चे खूब उछल-कूद मचाये रहे. जब देखा तब पटाखे, फुलझड़ी. घर के बड़े, जब शोरगुल से चिढ़ जाते तो बच्चों को अच्छी खासी डांट पड़ जाती. पर मुझे यह सब बड़ा अच्छा लगता. अम्मा सुबह से शाम तक रसोई में घुसी पकवान, मिठइयां बनाती रहीं और सब लोग खाकर अम्मा के हाथ की मिठइयों का स्वाद लेते रहे. लेकिन चार दिन बाद जब भैया-भाभी, दीदी व बच्चे लखनऊ चले गये तो वही घर जैसे काटने को दौड़ता. अजीब सा सन्नाटा छाया था. अम्मा भी कुछ नहीं बोलतीं. चुपचाप घर के कामों में लगी रहतीं. पिताजी को अपने कामों से फुर्सत नहीं जो उन्हीं से कुछ बात करें. शायद यही वज़ह थी मेरी उदासी की. कॉलेज भी अभी नहीं खुला जो पढ़ने ही चली जाती. डिग्री शिक्षा तो आज एक उपहास का पात्र बन चुकी है. न जाने कब इम्तहान हों और यदि हो गये तो परीक्षा का परिणाम, इसे तो शायद ईश्वर भी नहीं जानता कि कब निकलेगा.

मैं यही सब सोच रही थी, समय नहीं कट रहा था. इसी से कहानी की किताब ले पढ़ने बैठ गयी. अभी किताब के दो पृष्ठ ही पलटे होंगे कि चमारिन टोला की हरप्यारी हांफती हुई आयी और अम्मा से बोली -"अम्मा जी वा मैकी है ना, अरे ! वही मैकी हमारी बिरादरी की, वाने बगीचा में आम के पेड़ में फांसी लगाय लई."

"क्या ?" मैंने सुना तो किताब फेंक दौड़ कर उसके पास पहुंची. "कैसे ?" कब लगायी फांसी ?

"अरे बिटिया कल राति मां, आज सवेरे जब लोग-बाग फारिग हुअन गये तब देखा."

"अरे ! राम-राम बड़ा बुरा हुआ," अम्मा बोल पड़ीं.

"बैठे हरप्यारी, बताओ तो तनिक, बिरादिरी की बात है, अबै हम हुअई तैं आत है, मैकी को नाती तो हिमाये ढिंगा है. आज चारि दिन्हाते, कांहे उसका लड़का बांके कहां गया."

"वो तो चार दिन ते अस्पताल में है अबै ठीक कां है !"

इतना कह कर हरप्यारी तो चली गयी. लेकिन मुझे बेचैन कर गयी, क्यों मर गयी मैकी, वह तो बड़ी दिलेर महिला थी. पूरे टोले की खबर रखती. जिसे भी किसी बात की ज़रूरत होती वह दौड़-दौड़ कर पूरी करती.

मैंने अम्मा से, जिद की, मैं भी मैकी को देखने जाऊंगी. पहले तो अम्मा ने मना किया. गांव के ख़राब वातावरण का हवाला दिया. लेकिन जब मैं ना मानी तो चाचा की लड़की ऊषा के साथ जाने की इज़ाज़त दे ही थी, साथ ही हिदायत भी कि देखकर सीधे घर आना. पिताजी को पता चल गया तो डांट पड़ेगी.

डॉ. साधना शुक्ला

मैंने ऊषा को साथ लिया और वहां आ पहुंची. देखा तो सामने आम के पेड़ पर मैकी की लाश झूल रही थी, जीभ बाहर निकल आयी थी. बड़ा भयानक चेहरा लग रहा था. वैसे भी सत्तर अस्सी साल में वृद्ध शरीर अनाकर्षक हो जाता है. खाल झूल जाती है. झुर्रियां चेहरे को कुरूप बना देती हैं.

ऐसी स्थिति में उसे देख कर सहम गयी तो उषा ने कहा- "चलो दीदी, जब इतना डर लगता है तो देखने क्यों आयी ?"

"ऊषा इसे लोग पेड़ से उतारेंगे नहीं ?"

"अरे कैसे उतारेंगे जब तक पुलिस नहीं आ जाती तब तक कैसे उतारेंगे. जानती हो कितना लड़ाई झगड़ा हुआ था दो दिन पहले. लोग क्यों बीच में पड़ने लगे ?"

"किससे झगड़ा हुआ था ?"

"चलो पहले घर चलो रास्ते में बताऊंगी. यहां नहीं," उसने आस-पास के लोगों को देख कर कहा.

यह ऊषा कितनी समझदार है. मुझसे सिर्फ साल भर छोटी है लेकिन बुद्धि में शायद मुझसे चार साल ज्यादा. यह सोच कर मैं वापस चल पड़ी. रास्ते में मैंने पुनः पूछा तो बोली -"तुम्हें नहीं पता परसों गांव के प्रधान ठकुर दादा अजय प्रताप सिंह और मैकी की कहा-सुनी हो गयी थी. मैकी अपने खेत पर से पुआल का गट्ठर सिर पर धरे चली आ रही थी. इधर से ठकुर दादा अपने लठैतों के साथ चल रहे थे. ठकुर दादा ने कुछ व्यंग्य कसे, मैकी को देखकर. इस पर वह भी गुस्से में भरकर जवाब देने लगी. अब ठकुर दादा को कोई नीच जाति की औरत जवाब दे यह उन्हें व उनके लठैतों को कहां बर्दाश्त होगा. बस पिल पड़े उसे मारने में. मारा-पीटी, धक्का मुक्की में उन लोगों ने उसके कपड़े तक उतार डाले. तब तक गांव के दर्जनों लोग वहां जमा हो गये.

मैकी फिर भी चिल्ला रही थी. ठकुर दादा ने गुस्से में गांव वालों से कहा -वहीं खड़े रहना आगे कोई बढ़ा तो ठीक नहीं होगा. यह हमसे मुकाबला करती है, हमारे बराबर प्रधानी का चुनाव लड़ेगी. हमें हरायेगी. देखते हैं कैसे करती है यह सब ? इतना चिल्लाते हुए उन लोगों ने मैकी की खूब बेइज्जती की. जब गांव वालों ने ठकुर के हाथ पैर जोड़े तब उसके ऊपर थूक कर छोड़ दिया."

"इतना सब हो गया ऊषा और मुझे कुछ पता नहीं."

"तुम्हें कहां से पता होगा दीदी तुम तो अपनी किताबों में ही खोई रहती हो या फिर घर के काम काज में. और फिर रहती ही कितनी हो गांव में. दो चार दिन को तो आती हो. और शायद अम्मा ने तुम्हें बताया नहीं होगा."

तब तक घर आ चुका था. ऊषा शेष बातें बाद में बताने को कहकर चली गयी और मैं अपने घर.

घर आकर मैंने अम्मा को सब बताया तो अम्मा के मुंह से भी निकला - "यह तो होना ही था मुंहजली में दम तो है नहीं. ठकुर से भिड़ने का, चली परधानी का चुनाव लड़ने."

मैंने अम्मा से उलझना ठीक नहीं समझा. चुपचाप अपने कमरे में आकर बिस्तर पर लेट गयी. लेकिन मैकी दिमाग से नहीं निकल सकी.

यह वही मैकी थी जो बस इक्कीस वर्ष की उम्र में ही विधवा हो गयी थी. घर में इसके कुछ नहीं था. दो बेटे थे - बांके और दीना. बिरादरी के लोगों ने तब इसे बहुत समझाया था कि कहीं दूसरी ज़गह बैठ जाये, दूसरा आदमी कर ले, कैसे काटेगी पहाड़ सी ज़िंदगी. लेकिन मैकी नहीं मानी. हर किसी को जवाब देती, "का करनों है अपनी ज़िंदगी को, अरे जे दुई बच्चा हैं इन्हीं की ख़ातिर ज़िंदा रहे हैं. ज़िंदगानी को सुख बदो होतो तौ बांके के बप्पा काये चले जाते." और इतना कह मैकी फ़फ़क कर रो उठती. लोग ढ़ांढ़स बंधाते और इससे अधिक कोई कुछ ना कहता. इसी तरह दिन गुज़रने लगे. बांके और दीना बड़े होने लगे. मैकी के पास पांच बिघा का खेत था वह दिन-रात उसी में मेहनत करती.

अचानक मुझे याद आता है - मैं छोटी ही थी. करीब आठ या नौ साल की थी तभी दीना मर गया था. उसके मरने की घटना भी बड़ी मर्मांतक है.

दीना गांव वालों के जानवर चराने ले जाता था. दिन भर जानवर चराता और शाम को घर आता. मैकी जो कुछ रूखा-सूखा दे देती खा पी लेता. कौन ज्यादा उम्र थी. दस-बारह वर्ष. एक बार ज़िद कर गया. "अम्मा मुझे भी रोटी, सालन-अचार दे. मेरे साथ और लड़के लाते हैं और तू मुझे नमक रोटी ही रोज़ दे देती है. आज तो मुझे भी रोटी के साथ अचार और सालन दे, नहीं तो मैं जानवर लेकर नहीं जाऊंगा."

पहले तो मैकी ने उसे बहुत समझाया. जब नहीं माना तो

२७ मार्च १९६१

एम. ए. (भूगोल, हिंदी), पी-एच. डी. (हिंदी)

प्रकाशन : *'भोर के स्वर', 'आस्था के पड़ाव,' 'शब्द की शक्ति को बचाना है', 'गीत और गीत', 'आंख-आंख का नीर', 'इंद्रधनुषी हिंदी ग़ज़लें' में अनेक गीत व ग़ज़लें प्रकाशित.*
'अग्नि के परिवृत्त' कहानी संग्रह प्रकाशित, 'का करूं सजनी' कहानी संग्रह शीघ्र प्रकाश्य.
अनेक पत्र-पत्रिकाओं में गीत, ग़ज़ल, कहानी व शोध लेख प्रकाशित.

शोध-विषय : *"गीतिकाव्य परंपरा में महाकवि निराला के गीतों का मूल्यांकन."*

संप्रति : *प्रवक्ता हिंदी, डी. एन. पी. जी. कॉलेज, फतेहगढ़ २०९ ६०१*

खूब मारा. बच्चा ही तो था अड़ गया, नहीं माना. तब मैकी को जब कोई उपाय न सूझा तो अम्मा के पास आयी थी.

"अम्मा कुछ अचार- सालन होई तो देउ आज, मरो दीना मानतै नाहीं. कहत है कि आज रोटी के संग अचार-सालन देउ नहीं तो वह जनाबर नहीं चराइन जैहैं." मैकी काफी क्रोध में थी.

अम्मा ने उसे समझाया, "अरे मैकी बच्चे को मारा पीटा तो नहीं ? बच्चे हैं जिद करते ही हैं."

"मारै ना तो का करें अम्मा. मह कहां तैं लायें रोज़ अचार-सालन, इत्ती मिन्नत करिके तो दुई बखत की रोटी नसीब होत है. बापतो मरिगओ. हमें नरक में झोंकि गओ."

"अच्छा मैकी ज़्यादा गुस्सा न करो." अम्मा ने समझाया और मुझे आवाज़ दी, "शोभा ज़रा आम का अचार और सब्ज़ी लाकर मैकी को दे दो."

मैंने जब अचार-चटनी लाकर मैकी को दी तो उसकी आंखों में आंसू भर आये. अम्मा से बोली, "तुम्हारोई तो सहारो

है. नाहीं तौ जे गांव वाले हमें खाई जायें."

"ऐसा नहीं मैकी हिम्मत रखो. सब ठीक हो जायेगा."

अचार सब्जी लेकर जब मैकी अपने घर पहुंची तो ज़ोर से चिल्ला पड़ी. अचार सब्जी सब बिखर गया. देखा तो उसके लड़के दीना ने फांसी लगा ली थी.

मर कर रह गयी थी मैकी. उसके जीते जी उसकी ज़िंदगी का यह दूसरा बड़ा दुख था. पति की मौत को तो किसी तरह सह गयी पर ममता के लिए क्या करे ? वह भी भूखी रह गयी. अपने आप पर बड़ी मुश्किल से काबू कर पायी थी मैकी. हम लोगों ने जब सुना तो बहुत दुख हुआ. अम्मा तो बहुत दिन तक मैकी की बातें करती रही थीं. अम्मा हृदय से बड़ी दयावान व उदार थीं. गरीबों के लिए तो उनके हृदय में जैसे दया का सागर बहता था. गांव के ना जाने कितने लोगों की उन्होंने सहायता की. गरीबों का वक़्त पड़ने पर सहारा बनीं. इसी से वह हमेशा गांव में ही रहती थीं. भैया के पास नहीं. पिताजी कभी-कभी उन्हें ताना देते, "तुम्हारा बस चले तो पूरा घर लुटा दो."

"अरे होगा भी, ईश्वर हमें और देगा, किसी की सहायता कर देने से हमारा कुछ जाता है क्या ? इन विचारों को कौन समझता है गांव में. सब काम लेना जानते हैं. अपने स्वार्थ की पूर्ति करते हैं. ये गरीब बिचारे मेहनत मज़दूरी करते हैं. बदले में क्या मिलता है. गाली-गलोच, डांट-फटकार, ये भी तो इंसान हैं. इनका भी मन होता है खाने-पीने, पहिनने का."

"अच्छा अब बस भी करो. भाषण न दो भागवान. तुम जो चाहो करो." पिताजी चुप रह जाते. जानते थे अम्मा की दलीलों के आगे जीत ना पायेंगे. अभी तीन महीने पहले मैकी की बहू भी मर गयी. अबोध बच्चा मैकी पाल रही थी. मैं अभी इसी घटना में उलझी थी कि ऊषा आ गयी - "कहां खोई हो दीदी, वापस आ जाओ. पता है मैकी ने क्यों आत्महत्या की ?"

"नहीं ऊषा ?"

"तो सुनो, उस दिन की लड़ाई के बाद गांव में मैकी की किसी ने सहायता नहीं की थी. उसके टोले के लोग तो उसके साथ थे मगर ठकुर के डर से पुलिस थाने तक नहीं जाना चाहते थे. मैकी अकेले ही पुलिस थाने गयी थी. अपनी बात कही. जो दुर्व्यवहार ठकुर ने किया वह भी सब बताया. पुलिस इंस्पेक्टर अच्छा आदमी था. वह परसों गांव आया था. उसने गांव वालों से पूछताछ की. कुछ लोग ही हिम्मत करके वह घटना उल्टी सीधी बता पाये, शेष या तो ठकुर के डर से कुछ नहीं बोल पाये. या कुछ को ठकुर ने कुछ ले-देकर उन्हें अपनी तरफ मिला लिया था. उस मार-पीट में बांके भी था. ठकुर के लठैतों ने उसे भी खूब मारा था. गांव वाले उसे किसी तरह बचा ले गये और अस्पताल में भर्ती करवा दिया था. तब से वह वहीं है. उसका इलाज चल रहा है. उसके पैर की हड्डी टूट गयी है."

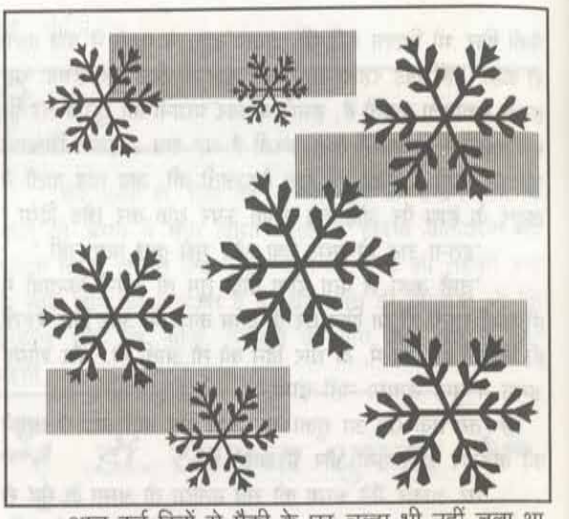

आज कई दिनों से मैकी के घर चूल्हा भी नहीं जला था. वह भूखी-प्यासी अपने लड़के से मिलने अस्पताल गयी थी. बांके का लड़का तो हरप्यारी के पास था. वहीं पर पुलिस बल के साथ वह इंस्पेक्टर भी आ गया था. उसने मैकी से पुनः पूछा - "यह सब क्यों हुआ ?"

"का बतायें साहब, जब तै सरकार ने हमारो गांव की परधानी की सीट हरिजन बनाये दई, तब से हमारे टोला बिरादरी वाले हमें परधानी को चुनाव लड़ाओ चाहते. वा बात ठकुर को पसंद नाहीं हति. बस जाही बात पे वा दिन रस्ता में हमतें कहा सुनी हो गई औरु हमाई बेज्जती करी. हमें मारो, हमारे लरिका को मारो. देखो साब जा देखो कैसो इंसाफ है. हमाई बात आपई सुनिओ. साब हम चुनाव अब ज़रूरै लड़िहैं." इतना कह मैकी फ़फ़ककर रो पड़ी थी. तब इंस्पेक्टर ने उसके लड़के बांके से पूछा-"तुम बताओ बांके, तुम तो घटना के चश्मदीद गवाह हो. सारी घटना सच-सच बताओ. गांव वाले तो हमें कुछ भी सही नहीं बताते."

"सुनो साब," बांके बोला - "हमें तुम नाहक परेशान मत करो. हमारा ठकुर से कोई झगड़ा नहीं. वह झगड़ा तो खेत को लेकर हमारी बिरादरी वालों से था. ठकुर तो बीच-बचाव करने उधर से आ गये थे. मेरे भी चोट ठकुर ने नहीं बिरादरी के लोगों ने मारी है."

"का कहत हो बांके, तुमाओ दिमाग तो ठीक है ?"

"हां अम्मा हम ठीक कहत हैं तुम बेकार का लफ़डा ना खड़ा करो."

"जाओ साब, आप जाओ. हमें इस केस के बारे में और कुछ नहीं कहना."

बेचार इंस्पेक्टर भी हार मानकर चला गया तब मैकी ने बांके से कहा -"जा तुमने का कह दओ, तुम्हें हमाई इज्जत

पियारी नाई है. इन लोगन ने हमें नंगो कर दओ, हमें मारो, गारी दई."

"अम्मा", बांके बोला दूर की बात सोचा करो. हम ठकुर से झगड़ा मोल लेके गांव में नहीं रह सकत. मालुम है तुम्हें, आज सबेरे-सबेरे ठकुर आये हतै. उनने डाक्टरन ते बात करी और कही हमारो इलाज मुफत में करो और जो खर्चा हुई हम दिहैं. हमारे पास आये और साथ में हम गरीबन को न्याय तो मिलिहै. ठकुर जैसे लोगन कौ मुंह कछू तो बंद हुई. हमें पचास हजार रुपया दे गये. जे लेओ. सब जनम की गरीबी दूर हुई. अम्मा बस उनकी एक शर्त हती कि हमारे खिलाफ तुम कछू ना कहिओ, केस रफा-दफा कराये देओ.

मैकी बीच में ही बोली - "बेटा जा परधानी को चुनाव तो हम तुम्हारे सुख के लैं लड़िहैं. जा काये ना ही सोचत."

"अम्मा' - बांके आगे बोला- "का मिलो हमें गरीबी से. दीना भूखो मरि गओ और हमऊ सारी ज़िंदगी गरीबी में काटे का. हमें तो अपने लरिका के बारे में सोचने है और दूसरी शादी लगी है. बाके खरचा होने हैं. तुम्हें तो गांव बालन ने सिर पे चढ़ाये लओ कि परधानी को चुनाव लड़ो और तुम अपनी औकात भूल गईं."

"बस बेटा बस अब और कछू मती कहिओ. हम जानि गई कि तुम हमाये सपूत हो. तुम्हें हमारी इज्जत, मरजादा बहुत पियारी है." इतना कह मैकी रोती-रोती वहां से चली आयी थी और आकर निढ़ाल पड़ गयी थी. पूरे दिन रोती रही. किसी ने कुछ न कहा. बस सबेरे पेड़ पे लटकी मिली.

"वह तो सारी बातें हरप्यारी को उसने बता दीं और हरप्यारी चुपचाप हमारी माताजी को बता गयी है. कसम दे गयी है कि किसी से ना कहना. मैंने तुम्हें बता दिया अब और किसी को ना बताना." इतना कह ऊषा तो चली गयी. मेरे पास छोड़ गयी कुछ प्रश्न. यह तो ठीक है किसी को कुछ ना बताया जाये. पर वह दर्द, वह तड़प ज़िंदगी की कठिनाइयां, जिसे मैकी ने झेला था. बदले में उसे क्या मिला ? बेटा जिसके लिए उसने सारी ज़िंदगी दांव पर लगा दी. दूसरा आदमी न किया. बेटे का सहारा लेकर ही सारी ज़िंदगी काट देने का सपना वह लेकर चली थी.

कठिनाइयों ने उसे जीना सिखा दिया था. वह बड़ी जीवट महिला बन गयी थी. लेकिन बेटे ने केवल अपने सुख की खातिर मां की इज्जत, मां की ममता, समाज में उसकी मर्यादा उसकी जीवंतता, सब को मिटा दिया.

आज के इस अर्थ प्रधान युग में पैसा क्या नहीं कर सकता. न्याय खरीद सकता, ठकुर जैसे अन्यायियों को समाज में सिर उठाकर चलने देता है. सब कुछ पैसे से संभव है. यहां तक कि बेटे का प्रेम, मां की इज्जत भी पैसा खरीद सकता है. यह अपने आप में बिरला ही उदाहरण है. स्त्री के किसी और रूप को तो न्याय नहीं मिल पाया समाज में, पुरुष वर्ग ने उसे हर ज़गह अपमानित किया है जिसकी पीड़ा ही स्त्री का जीवन है. लेकिन मां की अस्मिता तो बची रहने दें, क्योंकि मां अपने आप में बहुत पावन है. पवित्रता की मूर्ति है वह. और मैकी ऐसी ही पवित्रता की प्रतिमूर्ति थी.

तिर्वा कोठी, सिविल लाइन्स,
फतेहगढ़ २०१६०१ (उ. प्र.)

लघुकथा

राजनीति

गजानन देशमुख

नेवला और सांप अपने-अपने पिटारे में बंद थे. मदारी डमरू बजा-बजा कर भीड़ इकट्ठी करने में जुटा था, साथ ही साथ सांप और नेवले की पुश्तैनी दुश्मनी का बखान भी कर रहा था.

सांप, नेवले से उसकी शत्रुता कब हुई इसी विषय पर सोच रहा था. उधर नेवला भी इस बैर का कारण ढूंढने की असफल कोशिश कर रहा था.

-'देखो भाइयों ! सांप और नेवले की लड़ाई देखो. बच्चे लोगों तालियां बजाओ. देखना है कौन जीतेगा ? फिर जोर से ताली बजाओ, बच्चो !' डमरू व तालियों की आवाज के मध्य भी मदारी की बड़बड़ाहट चल रही थी.

नेवला सोचने लगा, क्या मैं आज जीत पाऊंगा ? सांप यदि मुझे मार डालेगा तो ? वह सोच-सोच कर ही डरने लगा. सांप को भी यही डर सता रहा था. आज उसकी खैर नहीं थी. नेवला उसे मार ही डालेगा.

लड़ाई शुरू हुई. मदारी ने एक हाथ में सांप को पकड़ा और नेवले की रस्सी को ढील दे दी. नेवला बार-बार सांप पर वार करने लगा. प्रत्युत्तर में सांप कुछ भी कर पाने में सक्षम नहीं था, क्योंकि मदारी उसे मौका दे ही नहीं रहा था. थोड़ी देर पश्चात सांप बेहोश हो मदारी के हाथ में झूल गया. नेवला जीत की खुशी में गर्दन उठा-उठा कर उछल-कूद करने लगा. मदारी ने जेब से कोई तावीज़ निकाला, सांप के मुंह में रखा. सांप को होश आ गया. पुनः लड़ाई प्रारंभ की गयी. अब नेवले की रस्सी खींची हुई थी, और सांप खुला था. सांप नेवले पर वार करने लगा. इस बार नेवला बेहोश हो गया. जीत की खुशी में अब सांप उछल-कूद करने लगा. कुछ समय पश्चात नेवले को भी होश आ गया. दोनों अपने-अपने पिटारे में बंद कर दिये गये.

अब दोनों के साथ मैं भी सोचने लगा, कि जीत किसकी हुई ? मैंने देखा मदारी पैसे बटोरने में व्यस्त हो गया था.

सहयोग मेडिकल स्टोर्स, इच्छापुर,
तहसील - बुरहानपुर, जि-खंडवा ४५० ४४१ (म. प्र.)

कहानी

पापा की तलाश में

सूरज दादाजी को ही पिता समझता था. दादाजी उसे प्यार से घुमाने ले जाते. उसे स्कूल तक छोड़ने जाते और उसकी हर जिद्द पूरी करते. वसुधा कभी-कभी सूरज पर चिढ़ जाती और उसे डांट-डपट देती. गुस्सा ठंडा होने के बाद मां की ममता फिर उमड़ पड़ती. वह सूरज की तारीफ के पुल बांधकर उसे खुश करके स्कूल भेज देती. वसुधा का कभी-कभी गुस्सा होने का कारण सिर्फ दादा ही समझते थे. दादी पैरों की अपंगता के कारण खटिया नहीं छोड़तीं. दादी सूरज की अच्छी मित्र थीं.

वसुधा मोहल्ले में ही सिलाई का काम सीखने जाती. जिस दिन सूरज की छुट्टी रहती दादी खटिया पर बैठी-बैठी सूरज का मन बहलाती रहतीं. सूरज आंगन में एक डंडे पर बांस की टोकनी उल्टी टिकाकर उसके नीचे कुछ दाने डाल देता. वह बाहर के दरवाजे की आड़ में छिपकर चिड़िया को देखता रहता. जैसे ही चिड़िया दाना चुगती हुई उस टोकनी के नीचे पहुंचती, कि सूरज दादी को इशारा करता और दादी रस्सी खींचकर टोकनी गिरा देतीं. कभी चिड़िया फुर्र हो जाती या कभी उस टोकनी की गिरफ़्त में आ जाती. दादी तो उठकर नहीं जा सकती थीं. सूरज दौड़कर जाता टोकनी में ढंकी हुई चिड़िया को निकालने का प्रयास करता. चिड़िया टोकनी उठते ही दूसरी ओर से निकल भागती. सूरज फिर से टोकनी टिकाकर दादी को रस्सी थामने का इशारा करता. चार वर्ष का सूरज चिड़िया की फुदक के साथ फुदकता रहता. दौड़ लगाने में कभी गिर भी जाता और कभी तो घुटने भी छिल जाते. दादी उसे...गिरेगा-गिरेगा कहकर थामने का प्रयास करतीं मगर सूरज मानने वाला नहीं था. दौड़ लगाते हुए कई बार गिरता, रोने भी लगता. दादी उसे कहतीं चुप हो जा. चींटी मर गयी है उसकी मम्मी हमसे झगड़ने आयेगी.

सूरज के गिरते ही दादी का कलेजा धक-धक करने लगता और सूरज चिड़िया को पकड़ने की खुशी में कभी गिरने पर भी हंसने लगता, दादी पैरों की अपंगता के कारण उसे नहीं उठा सकती थीं. और मन में कहतीं - उस चिड़िया की तरह मेरे भी पंख होते तो मैं उड़कर चली जाती और अपने नन्हें दुलारे को गिरने से बचा लेती. फिर वह चली जाती हैं उन बीते दिनों की ओर जब खेत पर काम करते समय आतंकवादियों ने हमला किया था और उस विस्फोट में वह अपना पैर गंवा चुकी थीं. एक कदम पर मौत थी और दूसरे कदम पर ज़िंदगी. दिन तो इधर उधर तांकते झांकते बीत जाता था. मगर रात भर धमाके सोने नहीं देते थे. उन सुनसान वादियों में चीखें सुनने वाला कोई नहीं था. कोई रात ऐसी नहीं होती जब कभी मोर्टार या रॉकेट नहीं दागे गये हों. कस्बे के लोग धमाकों के अभ्यस्त हो गये थे. घर से किसी काम से खेत पर सीमा की ओर जाना दिमाग में ऐसे विचार पैदा कर देता कि पता नहीं वह लौटकर आयेगी या नहीं. इतने में - "दादी मां-दादी मां, चिड़िया आयी," कहता हुआ सूरज टोकनी की ओर दौड़ लगाता है. दादी मां रस्सी नहीं खींच पाती हैं. सूरज तुतलाता हुआ कहता है- "क्या दादी मां आपने चिलिया उला दी."

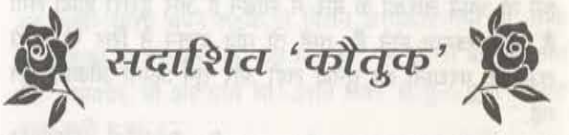

चिड़ियाओं को भी जैसे टोकनी के नीचे बार-बार आने में मज़ा आ रहा था. शायद लुका-छिपी का खेल चिड़ियाएं सूरज के साथ खेलना चाहती थीं. इतने में फिर एक चिड़िया टोकनी के नीचे आती है और दादी उसे टोकनी की गिरफ़्त में ले लेती हैं. दादी की राय से वह टोकनी पर कपड़ा डालता है और एक ओर धीरे से हाथ डालकर चिड़िया को पकड़ कर प्रसन्न मुद्रा में दादी के पास आने लगता है.

दादी जोर से आवाज लगातीं -"बेटा सूरज ज्यादा जोर से मत दबाना नहीं तो चिड़िया मर जायेगी."

इतने में वह दादी के पास आ जाता है. और बोलता है - "लो दादी, मुझे इसके पैर चुभ रहे हैं, पकड़ो जल्दी."

दादी मां आहिस्ता से उसके हाथ से चिड़िया ले लेती हैं. सूरज दौड़कर एक बारीक धागा ले आता है. और दादी मां चिड़ियां की टांग बांधकर धागा खटिया से लपेट देती हैं.

सूरज ने पूछा - "दादी मां, दादी मां, मैं चिड़िया को रंगने के लिए अंदर से हल्दी ले आऊं."

दादी ने कहा - "हां ले आ. आधा कटोरी पानी भी लेते आना. यह प्यासी हो गयी है. देख कैसे चोंच फैला रही है."

दादी ने कटोरी में हल्दी मिलाकर उस चिड़िया को रंग दिया. चिड़िया के पंख पीले-पीले दिखने लगे. सूरज ताली बजाते हुए कूदने लगा.

"हमाली चिलिया पीली हो गयी. हमाली चिलिया पीली हो

गयी. पीले पंख हमाली चिड़िया की पेचान है. पीले पंख वाली हमाली चिलिया है."

"चिड़िया की पहिचान है." सुनकर दादी अतीत में खो गयीं और वह सूरज में देखने लगती हैं अपने गुमानसिंह को, जैसे वह अंतिम पहाड़ी पर कब्जा करके झंडा फहरा कर बहुत खुश हो रहा हो.

शाम को छः बजे वसुधा और दादाजी खेत पर से आये. दादाजी ने सूरज से कहा -"बेटा अब चिड़िया को छोड़ दो वह अपने घर जायेगी. उसे यहां नींद नहीं आयेगी. उसका घर उस पेड़ पर है जहां बहुत-सी चिड़ियाएं उसका इंतज़ार कर रही हैं." कल वह फिर तुम्हारे साथ खेलने आ जायेगी.

"बेटा सूरज तेरी चिड़िया खोल दूं." दादी ने पूछा. उसने कहा - हां दादी कल उसे आने का कह देना. सूरज के भोलेपन पर दादा-दादी हंस रहे थे. वसुधा की आंखों से आंसू टपक रहे थे. वह जानती थी कि एक बार उड़ जाने वाले फिर लौटकर नहीं आते.

सूरज चार वर्ष का हो गया है. अब वह पड़ोस में भी जाने लगा है उसने पड़ोसी कमल को अपना दोस्त बना लिया. दोनों एक ही स्कूल में जाते हैं और साथ-साथ खेलते हैं. स्कूल छोड़ते वक़्त दादा हाथ में बस्ता लेकर जाते तो सूरज उन्हें अपनी पीठ पर बस्ता लादने को कहता. दादाजी को उन जवानों की याद आ जाती जो पीठ पर भारी वज़न लाद कर पहाड़ियों की चढ़ाई चढ़ते. सूरज की जिद्द पर उन्होंने उसकी पीठ पर बस्ता लाद दिया. आज दादाजी के सामने उसने पिस्तौल लाकर देने का सवाल किया. दादाजी ने उसे स्कूल से आने पर पिस्तौल लाने का आश्वासन दिया. और उसे स्कूल छोड़कर लौट आये.

दादाजी लौटते वक़्त बहुत उदास थे. उनका रास्ता तय नहीं हो पा रहा था. जैसे ही सूरज ने पिस्तौल मांगी उनके आस-पास पिस्तौल, रायफल और टैंकों के धमाके गूंजने लग गये थे. हाथ कांपने लग गये. आंखें नम हो गयीं. वे आकाश की ओर देखकर ईश्वर से प्रार्थना करने लगे. हे प्रभू ! तू इन्सानों को शांति का पैगाम दे. सब तेरे एक ही बाग के फूल हैं. फिर धर्म और धरती के लिए एक दूसरे के खून के प्यासे क्यों हो रहे हैं. फिर क्यों मांओं की कोख़ें उजड़ रही हैं ? फिर क्यों बहन-बेटियों का सिंदूर मिटाया जा रहा है. वह स्कूल से लौटते हुए रास्ते में खिलौनों की दूकान पर गये, एक रिवाल्वर, एक टैंक और एक फौजी जवान खरीदकर ले आये. चार बजे स्कूल से आते ही सूरज ने पूछा- "दादाजी मेरे लिए खिलौने ले आये क्या ?"

दादाजी ने उत्तर दिया - "हां, ले आया हूं. मेरे राजा बेटे के लिए नहीं लाऊंगा तो किसके लिए लाऊंगा. जैसे ही दादाजी ने झोले से खिलौने निकाले सूरज बहुत खुश हो गया. खुशी से

१ जनवरी १९४८

गोगावां, जिला - खरगौन (म. प्र.)

लेखन : साहित्य की लगभग सभी विधाओं में लेखन. आकाशवाणी से कविताओं का प्रसारण एवं देश के चर्चित संकलनों में कविताओं का प्रकाशन.

प्रकाशन : उपन्यास : 'नदी लौटती नहीं है' एवं 'आतंक'. कहानी संग्रह : 'चल जमूरे'. कविता संग्रह : 'भूखा बंदर खाय मदारी', 'स्याह धब्बों के बीच' एवं 'आखिर कब तक' तथा 'सीता स्वयंवर' (खंडकाव्य), 'कौतुक की कुंडलियां' (काव्य), 'गुलेल' एवं 'आर-पार' (हाइकू छंद).

सम्मान : कवि-कोकिल सम्मानोपाधि-९९ एवं काव्य महारथी (हैदराबाद) राष्ट्रीय हिंदीसेवी महासंघ द्वारा सम्मानित.

संप्रति : अध्यक्ष साहित्य संगम (इंदौर), अध्यक्ष श्री चैतन्य मंडल (इंदौर). भवन-निर्माण - स्वतंत्र-लेखन.

उछलने लगा था. लेकिन वसुधा उन खिलौनों को देख थर्रा रही थी. ऐसे ही हथियारों ने उसका सुख-चैन छीन लिया था. उसके सपने चूर-चूर कर दिये थे. सूरज के हाथों में खिलौने देखकर उसे ऐसा लगता जैसे मुस्कुराते हुए गुमानसिंह उसे इशारा कर रहा हो. वह उसे बार-बार अपनी बांहों में समेट रहा हो. मग़र वह जानती है कि गुमानसिंह उससे दूर बहुत दूर जा चुका है. और यदि उसके आसपास है तो वह सूरज के रूप में है. उसकी भीगी आंखें गुमानसिंह की तस्वीर की ओर देखती हैं. गुमानसिंह का हंसता हुआ रोबदार चेहरा उसे संतोष रखने को कहता और उसकी आंखों के आंसू उसके पास खड़े सूरज की अंगुलियों पर आ गिरते हैं. सूरज पूछ बैठता है- "मां तुम क्यों रोती हो ?" वसुधा उसे अपनी बांहों में भर चूमने लगती है. अपने सीने से बड़ी देर तक चिपकाये रखना चाहती है. सूरज अपनी मां के आंसू कोमल अंगुलियों से पोंछने लगता है.

गेम्स के पीरियड में जब सारे बच्चे मैदान में खेल रहे थे, सूरज के मन में पता नहीं कहां से एक सवाल आ चुभा. सूरज सोचने लगा, कमल को उसके पापा रोज़ छोड़ने आते हैं, मुझे मेरे पापा क्यों नहीं स्कूल छोड़ने आते, न कभी मेले में ले जाते और न कभी हीरो होंडा पर बैठाते हैं, कमल के पापा तो रोज़-रोज़ उसे घुमाने ले जाते, अच्छी चीजें दिलाते हैं, कमल भी बात-बात पर अपने पापा की प्रशंसा करता, सूरज के कोमल मन में यह कमी घर कर गयी, और वह यह बात मां से ही पूछना चाहता था, बच्चे जो जिद्द कर लेते हैं उसे पूरी किये बग़ैर नहीं मानते.

स्कूल से घर लौटते हुए सूरज उदास था, दादाजी उसकी उदासी का कारण नहीं समझ पा रहे थे, उन्हें पता नहीं चल पा रहा था कि सूरज को किन बादलों ने ढंक लिया है, दादाजी रास्ते में उससे बार-बार पूछ रहे थे -"बेटा सूरज क्या स्कूल में किसी ने कुछ कहा ? क्या सर ने डांटा ?"

वह बार-बार सिर हिला रहा था, उसके आसपास बस वही एक प्रश्न घूम रहा था, घर पर आकर उसकी पीठ पर से वसुधा ने बस्ता उतारा और उसके गालों पर हाथ फेर कर प्यार जताया, उसने मां के हाथों को झिड़क दिया, वसुधा समझ गयी कि आज उसका किसी लड़के से स्कूल में झगड़ा हुआ है, वसुधा ने उसे उठा लिया और प्यार से खाना खाने ले जाने लगी, वह उसकी गोद से फिसल गया और दादी की गोद में सिर रखकर बैठ गया, दादी ने उसके सर को हाथ से सहलाया, और पूछा - "बेटा सूरज आज उदास क्यों है ? बात क्यों नहीं कर रहा है ? मुझे बता दे, मैं तेरी दादी हूं न ? आज फिर तुझे चिड़िया पकड़कर दूंगी."

सूरज ने रोता हुआ मुंह बनाकर कहा - "दादी दादी..."

"हां बोल बेटा, बता क्या बात है ?"

उसने कहा -"दादी कमल को उसके पापा रोज स्कूल छोड़ने आते हैं, मेरे पापा मुझे स्कूल छोड़ने के लिए एक दिन भी नहीं आये, क्या मेरे पापा कहीं ओर रहते हैं, क्या मेरे पापा को मैं और मम्मी पसंद नहीं है ?".

उसका प्रश्न सुनकर ही दादी का कलेजा धक्क से रह गया, एक क्षण उसने बहू को देखा, दूसरे क्षण सूरज के दादा को और तीसरे क्षण शहीद बेटे की तस्वीर को, और दादी हिम्मत करके बोलीं - "नहीं बेटा ऐसी बात नहीं है, तेरे पापा बहुत बड़े आदमी हैं, तेरे पापा बहुत बड़ा काम करने गये हैं, और वे आयेंगे तब तेरे लिए बहुत सी चीजें लायेंगे, आने पर मैं उसे खूब डांटूंगी कि इतने दिनों बाद क्यों आया ? मेरा सूरज तेरा इंतजार कर रहा था."

वसुधा और दादाजी आंखों नम हो गयी थी, दादी ने मुंह एक तरफ कर लिया ताकि उनकी आंखों से बहते आंसू सूरज नहीं देख ले.

इतने में आंसू पोंछकर दादाजी ने कहा -"बेटा मैं तेरा पापा हूं, तू बड़ा हो जायेगा तो मैं तुझे हवाई जहाज में सैर करवाऊंगा, हवाई जहाज़ में" और वे फ़फ़क-फ़फ़क कर रो पड़े.

सूरज उम्र का अंतर तो नहीं भांप सकता था, मगर वह जो अंतर देख रहा था बोला - "दादाजी अगर आप ही मेरे पापा हैं तो आपके सिर पर बाल काले क्यों नहीं हैं ? सफेद बाल क्यों हैं ? कमल के पापा के सिर पर तो बाल काले-काले हैं, और कमल उसके पापा को पापा कहता है, मैं तो आपको दादाजी कहता हूं."

यह पहला अवसर था जो सूरज की जिज्ञासा ने सबको झकझोर कर रख दिया था.

दादाजी के पास सही ज़वाब तो नहीं था, मगर फिर भी सूरज को समझाने के लिए बोले -"पापा और दादा एक ही बात होती है."

इतना सुनते ही वह भड़क गया, और बोला, "नहीं दादाजी आप झूठ बोलते हैं, आप झूठे हैं, हम आपको दादाजी नहीं कहेंगे, जाओ हम आपके द्वारा लायी नयी पिस्तौल, तोपगाड़ी और सिपाही से नहीं खेलेंगे."

वह उठा और उन खिलौनों को कमरे के टांड पर फेंक दिया, वसुधा आंसू पोंछती हुई सूरज के पास गयी, प्यार से उसका हाथ पकड़ा और बोली - "बेटा दादाजी को ऐसा नहीं कहते, चल खाना खा ले, थोड़ी देर में कमल आने वाला है, वह तुझे क्रिकेट खेलने ले जायेगा, खाना नहीं खायेगा तो भगवान नाराज़ हो जायेंगे, अच्छे बच्चे मम्मी का कहना सुन लेते हैं."

सूरज ने खाना खाते हुए पिता गुमानसिंह की तस्वीर जिस पर चंदन की माला चढ़ी हुई थी, की ओर देखा, पास ही रखी अगरबत्ती की खुशबू महक रही थी और मस्तक पर चंदन का तिलक लगा हुआ था, फौजी वर्दी में गुमानसिंह का चेहरा रौबदार दिख रहा था, तस्वीर देखकर सूरज ने वसुधा से पूछा है - "मां तुम इस तस्वीर की पूजा क्यों करती हो ?" यह तो फौजी आदमी की तस्वीर है ? और इस पर चंदन की माला क्यों चढ़ा रखी है ? कमल के घर तो ऐसी तस्वीर नहीं है.

वसुधा ने कहा -"बेटा ये भगवान की तस्वीर है, तुम भी रोज़ इनको प्रणाम किया करो."

सूरज ने फिर कहा - "पर, मां कमल के यहां तो मंदिर में दूसरे भगवान हैं, ये भगवान कैसे हुए, उसके यहां तो, पीतल के भगवान हैं, और भगवान के हाथों में गदा, चक्र है, त्रिशूल है, न जाने क्या क्या है ?"

वसुधा ने कहा - "हां, बेटा वे भी भगवान हैं ? और ये हमारे लिए भगवान से भी बढ़कर हैं, तुम इन्हें रोज़ प्रणाम किया करो."

ग़ज़लें

✍ भानुमित्र

(१)

रात भर चल कर थक चुका होगा ।
आयु से अपनी पक गया होगा ।।

रेत पर टपकी थीं कहीं बूंदें ।
घाव फिर से ताज़ा हुआ होगा ।।

प्रात भी सांझ उसे लगी होगी ।
देख कर सूरज डर गया होगा ।।

पास अपने पा कर नहीं मुझ को ।
भीड़ में ही गुम हो गया होगा ।।

भीड़ में सुन कर नाम वह मेरा ।
रास्ते में ही रुक गया होगा ।।

पेड़ जीवन का देख कर गिरता ।
घोंसला किस भांत उखड़ होगा ।।

(२)

पेड़ पर पांखी कोई लौटा नहीं ।
क्या गगन में अब कहीं रस्ता नहीं ।।

इस नगर में है अभी तक भी तमस ।
बांध शायद धूप का टूटा नहीं ।।

काट कर कह रहा है कर करम ।
मूढ़ भी ऐसी सज़ा देता नहीं ।।

रात भी हो दिन अगर हो हाथ में ।
पर उतर कर भी तो वह आता नहीं ।।

ढूंढ़ना खुद को सहज भी तो कहां ।
मार्ग मुझ को कुछ भी याद आता नहीं ।।

चैन से सोता कभी मैं दो घड़ी ।
छोड़ मुझ को तू भी तो लौटा नहीं ।।

आज मुझको सब समझ में आ रहा ।
हाथ क्यों तू ने मेरा छोड़ा नहीं ।।

पीपली महादेव की पोल में,
मानक चौक, जोधपुर - ३४२००२

कमल गेंद और बल्ला लेकर आ गया था. सूरज मां की गोद से उतरा और उसके साथ खेलने बाहर चला गया. वसुधा सूरज को नहीं बताना चाहती थी कि उसके पिता देश की रक्षा करते हुए हिमालय की उन वादियों में शहीद हो गये हैं इसलिए भगवान से भी ज्यादा सम्माननीय हैं.

❐

कुछ महीनों के बाद सूरज के मकान से चौथे मकान पर एक आदमी की मौत हो गयी. उस दिन उसके स्कूल की छुट्टी थी. वह बार-बार बाहर आकर देख रहा था. अर्थी तैयार हो रही थी. कंडा जलकर धुंआ दे रहा था. तमाम लोग इकट्ठे हो गये थे. परिवार के सदस्य रो रहे थे. फिर शव पर फूल चढ़ाये जा रहे थे. अर्थी को लोग कंधा देकर ले जा रहे थे.

तीसरे दिन सूरज और कमल खेलते-कूदते उस घर चले गये जिस घर से चार दिन पहले वह व्यक्ति स्वर्गवासी हो गया था. उसकी तस्वीर दीवार के सहारे टिकी हुई थी. सूरज गौर से उस तस्वीर को देख रहा था. तस्वीर पर चंदन की माला टंगी हुई थी. अगरबत्ती जल रही थी. और उसके मस्तक पर चंदन का टीका लगा हुआ था. तत्काल सूरज कमल को वहीं छोड़कर अपने घर आया. पिता की तस्वीर को गौर से बड़ी देर तक देखता रहा. वह तस्वीर पर चंदन की माला, चंदन का टीका और जलती हुई अगरबत्ती का अर्थ समझ गया था. वह पिता की तस्वीर के नीचे दीवार से सटकर बैठ गया. उसकी शांत मुद्रा में सन्नाटा सांय-सांय कर रहा था. दादा-दादी और वसुधा डर गये थे. सूरज से नज़र मिलाने की किसी में हिम्मत नहीं हो रही थी. सभी सोच रहे थे पता नहीं सूरज कौन सा प्रश्न दाग दे और शायद उनके पास कोई उत्तर नहीं हो. उन्हें सूरज बहुत विकल दिख रहा था.

एक क्षण उसने पिता को प्रणाम किया और दादाजी से बोला -"दादाजी टांड पर से मेरी पिस्तौल और तोपगाड़ी निकाल दो. मैं पिस्तौल चलाऊंगा, मैं तोप चलाऊंगा."

दादाजी ने टांड से खिलौने निकाल कर दे दिये. सूरज पिस्तौल-तोपगाड़ी लेकर गोलियां दनदनाता हुआ बाहर निकल गया. जैसे वह पिता की तलाश में उन वादियों की ओर दुश्मन से लड़ने जा रहा हो.

श्रमफल, १५२०, सुदामा नगर, इंदौर - ४५२ ००९

कहानी

काके दी गड्डी

एकाएक ब्रेक शायद कुछ अधिक ही जोर से दब गये थे, ब्रेक की चिचियाहट के साथ ही मानो गुस्से में ट्रक गुर्राकर खामोश हो गया. "ओ बंतया ! चल रोटी-सोटी खा लीत्ती जाये".... आवाज़ काफी थकी सी थी. परविंदर खुद अपनी आवाज़ पर चौंक पड़ा, यह इसकी आवाज़ तो न थी, वह तो किस अक्खड़पन, किस मस्ती से बात करता था. ट्रक से उतरते हुए उसने बैक व्यू मिरर में अपना प्रतिबिंब देखा और चौंक पड़ा.... क्या यह वही था. बिना जूड़े के कटे बालों वाले अपने प्रतिबिंब को देखकर वह फिर एक बार अनजाने पाप बोध से व्याकुल हो उठा -"वाहे गुरू ! तेरी मेहर ! तू सब्ब जांणता है ! सच्चे पादशा ! मैं तेरे दर पे आके मत्था टेकूंगा ! मेरे गुनाह बक्शना ! हे रब्ब ! ऐ की हो गय्या ! मेरे जैसा सच्चा गुरू का बंदा... अपनी मौत से खौफ खा गया... अब्ब लोगां नू कि मुंह दिखावांगा ?"

फिर पिछले सात-आठ दिन के यंत्रणा भरे क्षणों के दृश्य उसकी आंखों के सामने नाचने लगे. वह तो अच्छा खासा ट्रक लोड करके जा रहा था. बस पांच-छः दिन में दिल्ली पहुंच कर ट्रक खाली करता और फिर लुधियाने के पास अपने गांव जा पहुंचता, पर सब गड़बड़ हो गया.

प्रधानमंत्री की उसके अंगरक्षक ने गोली मारकर हत्या कर दी थी. अंगरक्षक सरदार था और फिर देशभर में लोगों का आक्रोश पूरी सिख कौम के लिए उमड़ पड़ा. पचासों निरपराध सिख इस उन्माद के शिकार बन गये. उसे जब इस उन्माद का पता चला तो वह ट्रक लेकर जंगल में जा छिपा. उसके जैसे ही कई सिख ट्रक ड्राइवर अपने ट्रक के साथ शहर, कस्बे की आबादी से दूर जंगल में जा छिपे थे. दिन-रात, भूखे प्यासे जंगल में पड़े रहने के बावजूद, दहशत-खौफ की अनजानी तलवार उन्हें गर्दन के उपर झूलती नज़र आती और उस पर घर लौटने की बेचैनी, पत्नी एवं बच्चों से मिलने की व्याकुलता और भी तीव्र हो उठती.

फिर एक दिन चोरी-छिपे जाकर कहीं से ट्रक का खलासी बंता सिंह अपने केश कटवा आया. अब उसे कोई ख़तरा न था, अब वह कहीं से भी सरदार नहीं लग रहा था. वह कई बार उससे भी बोला कि -"सरदार जी, केश कटवा छड़ो और ट्रक लेकर भज चलो, जांण है तो जंहाण है. सारी बस्ती पगलाई होई है, हूंण जंगलां बिच छिपे सरदारां नू ढूंढ़ कर मार रहे हण. ते हुंण दे ट्रका नू साड़ रहे हण." पर उसका धर्मभीरू मन इसके लिए तैयार ही न होता था. आखिर एक दिन अचानक वह भी केश कटवा कर आ गया. शायद प्राणों का मोह था या फिर परिवार की चिंता, अपने इकलौते पुत्र जगजीत, जिसे कि वह प्यार से जग्गे कह कर पुकारता था की फ़िक्र. जो भी कारण रहा हो वह केश कटवाकर अपने आपको एक ओर जहां सुरक्षित समझ कर ट्रक लेकर चल पड़ा वहीं दूसरी ओर एक अनजाना पापबोध उसकी आत्मा को कचोट रहा था. वह बात-बात पर बंता सिंह पर बिगड़ पड़ता था, तो कभी ब्राम्हण, बनियों को छुट्टा गाली देने लगता, उसकी नज़र में गैर सिख सब बम्हन, बनिये ही थे.

राजेंद्र सिंह गहलौत

वह अपने आप में खोया हुआ-सा कब ढाबे पर पहुंच गया पता ही न चला. ढाबे के सामने बिछी खाट पर बेमन से पालथी मार कर बैठ गया, सामने लकड़ी का पटरा बिछा था, बंता दूसरी ओर बैठा उससे पूछ रहा था कि खाने में क्या मंगवाया जाये.

वह थके हुए अनमने स्वर में बोला -" कुज बी मंगा ले." फिर थोड़ा रुक कर बोला - "दारू दी बोतल कड़ लै." वह सबेरे से ही पी रहा था और अब रात घिर आयी थी पर बंता उसे मना करने का साहस भी न कर पा रहा था. उसने चुपचाप दारू की बोतल निकाल कर पटरे पर रख दी. खाने का ऑर्डर दे दिया, और एक दो पेग गले से उतरते ही वह फिर आवेश में मुखर हो उठा - "माइयावै ये बाणिये, बाम्हणे समझ दे क्यों नहीं, मैं ते मारया नहीं इन्हां दे प्रधानमंत्री नूं." फिर रुककर बोला - "बंतया ! इक गल दस प्रधानमंत्री अंगरक्षक कोई बाणिया, बाम्हण होंदा ते कि ऐ सारे बाणये ते बाम्हणां नू मार छड़दे .... और कुज नई यार ए सिखां दी कौम नाल जलदे हैं । इन्हां तो पंजाब दी तरक्की देखी नहीं जांदी ..... ये माइयावै..." फिर वह दारू के नशे में लड़खड़ाते स्वर से मोटी-मोटी गालियां देने लग गया.

बंता घबड़ा कर भयभीत नज़रों से चारों ओर देखता हुआ बोला - "चुप्प करो सरदार जी ! जमाणा देखकर चलना चाहिदा है."

वह ट्रक की ड्राइविंग सीट पर बैठने ही जा रहा था तभी एक चौदह-पंद्रह साल का लड़का उसके पास न जाने कहां से कुछ सहमे स्वर में पास के ही किसी मुकाम तक छोड़ देने का

आग्रह करने लगा. न चाहते हुए भी न जाने कैसे उसे ट्रक में बिठा लेने के लिए वह सहमत हो गया. ट्रक फिर आगे के सफर की ओर चल पड़ा, वह अभी भी आक्रोश में था. धारा-प्रवाह गालियां मुंह से निकल रही थीं, जिसे सुनकर वह किशोर सहम उठता. फिर एकाएक उस किशोर की ओर मुखातिब होते हुए वह बोला -"पुत्तर तेरा नां की है ?" किशोर सहमते हुए बोला - "रविंद्र कुमार .... रविंद्र कुमार शुक्ला." वह नाम सुनकर बुरा मुंह बनाते हुए बाहर थूकते हुए बड़बड़ाया -" खोते दा पुत्तर - बम्हण दी औलाद..." और फिर न जाने क्या क्या बड़बड़ाते हुए विन्ड स्क्रीन पर नज़र गड़ा कर ट्रक चलाने लगा.

आधी रात का समय था, रास्ता भी ख़राब था. शायद इसलिए उसका ध्यान ड्राइविंग की ओर केंद्रित हो गया. पर किशोर रविंद्र भयभीत हो उठा. ड्राइवर के ब्राम्हण, बनियों के प्रति क्रोध की अभिव्यक्ति को देखकर वह अपने आपको कोस रहा था कि उसे अपनी जाति बतलाने की क्या ज़रूरत थी. ड्राइवर एवं खलासी की बातों से उसे यह भी आभास हो गया था कि ये दोनों ही सिख हैं जो कि सिखों के प्रति फैले उन्माद के फलस्वरूप अपने केश कटवा चुके हैं, लेकिन अभी भी उनके दिल में आक्रोश का लावा खौल रहा है. उसे तो बचपन से ही सरदारों से भय लगता था, जूड़ा एवं दाढ़ी मूंछ से ढका चेहरा उसे बड़ा भयानक लगता था. फिर वे कैसे ऐंठ कर बात भी तो करते हैं, जिससे कि वह तो उनसे बात करने में ही घबराता था. फिर अभी प्रधानमंत्री की हत्या उनके सरदार अंगरक्षक द्वारा कर देने पर उसके मन में यह धारणा पक्की हो गयी थी कि सब सरदार क्रोधी, खूंखार और ज़रा सी बात पर ही किसी की भी जान लेने पर आमादा हो उठने वाले होते हैं. वह और भी भयभीत हो उठा, डर से उसका मुंह पीला पड़ गया, फिर एकाएक उसे लगा कि उसके ब्राम्हण होने के कारण ये सरदार कहीं जंगल में सुनसान जगह पर ले जाकर उसे मार डालेंगे. तभी उसके हाथ पर किसी धारदार लोहे के हथियार का स्पर्श हुआ, उसने सहमते हुए टटोला तो सीट के नीचे रखी तलवार का उसे अहसास हुआ. उसने गांव में ठकुर साहब के घर में रखी तलवार देखी थी और अगले पल ही मारे डर के उसकी घिग्घी बंध गयी. पूरा शरीर पसीने से नहा गया, आंखें भर आयीं. फिर उसे ख्याल आया कि ट्रक के ऊपर केबिन पर लिखा हुआ था "काके दी गड्डी", तब भी वह नहीं समझ सका कि इस ट्रक के ड्राइवर, खलासी सरदार होंगे. काश पहले आभास हो गया होता कि ये लोग सरदार हैं तो कभी भी इनके ट्रक में न बैठता. हे भगवान ! रक्षा करना.... किसी तरह सकुशल घर पहुंचाना और वह मन ही भगवान से प्रार्थना करने लग गया. फिर घर में अपनी प्रतीक्षा करते अम्मा, बापू की याद आने लगी, और वह न जाने क्यों रुआंसा हो उठा. अगले पल उसे लगा कि वह फूट-फूट कर रो पड़ेगा.

११ जून १९४९

एम. ए. (समाजशास्त्र एवं हिंदी साहित्य),

एल. एल. बी.

प्रकाशन : *विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में कहानी, समीक्षा, निबंध एवं व्यंग्य (लगभग १०० रचनाएं) प्रकाशित.*

आकाशवाणी शहडोल द्वारा कई कहानियां एवं व्यंग्य रचनाओं का प्रसारण.

संप्रति : *मुद्रण व्यवसाय. ६ वर्षों तक एक साप्ताहिक समाचार पत्र एवं २ वर्षों तक एक पाक्षिक पत्रिका का प्रकाशन एवं संपादन.*

ट्रक ड्राइवर परविंदर का आक्रोश धीरे-धीरे उतार पर आ गया था. फिर वह अपने पुत्तर जगजीत की यादों मे खो गया. अभी उम्र ही क्या है चौदह-पंद्रह वर्ष का ही तो है, मसें भी नहीं भीगी हैं, पर बड़ा होकर ज़रूर गबरू जवान निकलेगा .... आखिर है किस दा पुत्तर. जब भी घर पहुंचता हूं तो गले से लिपट जाता है. मैं लाख कहता हूं कि, "काके बदमाशी न कर पर छोडदा ही नई. कदे कुज फरमाईश, कदे कुज. कदे अपने स्कूल दी गलां, कदे मोहल्ला दी गलां. कदे अपणी बेबे दी शिकायतां, कदे अपणे यारा, दोस्तां दी गलां, सब दसदा रहदा है." पुत्र की याद आते ही केश कटवाने का पश्चाताप, बम्हन, बनियों के प्रति आक्रोश सबके चित्र मन के पर्दे से विलुप्त हो गये और पुत्र, पत्नी, घर एवं गांव की याद सताने लगी. उसे लगता कि कब वह दिल्ली पहुंचे, माल खाली करे और फिर लुधियाने के पास के अपने गांव जा पहुंचे. कभी उसकी नज़र सहमे हुए भयभीत किशोर पर पड़ी - "अरे ! इन्ना ही बड्डा तो होगा काके," और फिर न जाने कैसे अनजाने में उस किशोर के प्रति स्नेह की धारा दिल में उमड़ने लगी - "ए बंतया ! काके नू कंबल उडा दे, लगदा है इन्नू ठंड लग रही होणी है." किशोर की सहमी मनाही के बावजूद उसे वह कंबल उढ़ाकर ही माना, फिर भरसक अपनी

आवाज़ को कोमल करते हुए उससे वह उसके स्कूल, घर, यार दोस्त ...सबकी बातें पूछने लग गया. अगले पल उसे लगा कि वह अपने पुत्र जग्गे से बात कर रहा है. फिर किशोर के भय से पीले पड़ते चेहरे को देखकर उसे लगा कि लड़का भूखा है और तभी एक ढाबे के पास ट्रक मानो अपने आप ही रुक गया.... "काके चल कुज रोटी-सोटी खा ले, लगदां है तू भूख्खा होंणा है." और वह ट्रक से उतर पड़ा. जबकि किशोर के भयभीत मन में लगा कि हो न हो सरदार जी खिला-पिला कर उसे मारना चाहते हैं और उसके मन में अपने कस्बे की वह घटना याद आ गयी जबकि गांव के देवी मंदिर में किसी तांत्रिक ने एक बच्चे की बलि चढ़ाई थी तो पहले उस बच्चे को खिला-पिला कर फिर उस बच्चे की पूजा कर उसरी बलि चढ़ा दी थी. उसे लगा कि सरदार जी भी बस उसे खिला-पिला कर आगे चलकर किसी सूनसान ज़गह में ले जाकर तलवार ले काट कर फेंक देंगे, और वह तीव्र भय के आवेग से सिहर उठा. अगले पल ही वह मन ही मन भागने की फिराक में लग गया और तभी उसे मौका भी मिल गया. ट्रक ड्राइवर एवं खलासी पास ही खड़े एक अन्य ट्रक के ड्राइवर, जो कि शायद उनकी ही ट्रांसपोर्ट कंपनी का ट्रक चला रहा था से बातचीत में मशगूल थे, और वह एकाएक धीरे से अंधेरे में खिसक गया. अगले पल ही वह ट्रक की ओट से निकल कर मेन रोड पर तेजी से भागने लगा. तभी उसके चेहरे पर रोशनी का झमाका पड़ा और वह हतप्रभ-सा ठिठक कर खड़ा रह गया. सामने से तेज स्पीड में मौत का दूत बनकर एक ट्रक धड़धड़ाते हुए चला आ रहा था. एकाएक बातचीत में मशगूल परविंदर, किशोर को ट्रक की चपेट में आते देखकर चौंक पड़ा. उसे न जाने क्यों ऐसा लगा कि उसका पुत्तर जग्गे ट्रक के नीचे आ रहा है और वह पगलाये अंदाज में, "काके बचना" का आर्तनाद करते हुए मेन रोड पर दौड़ पड़ा. अगले पल ही उसने किशोर को रोड के किनारे धकेल दिया, लेकिन खुद को सामने से तेज गति में आते ट्रक की चपेट से न बचा सका. जब तक ट्रक रुकता तब तक ट्रक की तेज टक्कर से वह मेन रोड पर धराशायी हो चुका था. दम तोड़ता परविंदर, खून से लथपथ, बंद होती आंखों से आकाश की ओर ताक रहा था, शायद नभ में बिखरे तारों में उसे दूर कहीं अपना गांव, अपनी पत्नी और अपने पुत्र के चेहरों की झलक दिखलाई पड़ रही थी. टक्कर मारने वाले ट्रक की रोशनी का दायरा उसके ट्रक के ऊपर लिखे "काके दी गड्डी" के शब्दों पर सहम कर रुक गया था और वह टूटते स्वर में किशोर की ओर देखकर बोला - "काके.... पुत्तर.... तू.... ठीक है.... न.... तैनू... कोई चोट सोट.... तो.... नई लग्गी." और अगले पल ही अरदास में दोनों हाथ ऊपर उठकर बुदबुदाया -" वाहे गुरू, बंदे दा गुनाह बख्सना." और फिर अपने गांव पहुंचने के सपने लिये हुए एक अक्खड़, एक खूंखार-सा दिखने वाले, पर कोमल दिल के, पुत्र प्रेम में व्याकुल घर एवं पत्नी-पुत्र तक पहुंचने के लिए आतुर सिख ड्राइवर की आंखें सदा के लिए बंद हो गयीं.

द्वारा सिंह प्रिंटिंग प्रेस, पो. बुढ़ार,
जिला - शहडोल ४८४ ११० (म. प्र.)

तुम

सुरेंद्र रघुवंशी

सुबह होते ही
नींद की झील से
तुम्हें निकाल लाती है, मां
तुम उठते हो, नन्हें हाथों से
आंखें मीढ़ते हुए
अनमने से,
पानी फेरते हो मुंह पर,
लद जाती है कंधों पर
तुम्हारी उम्र के वर्षों से ज्यादा
किताबों की संख्या वाला बैग,
तुम चलते हो
अनिच्छा से पैरों को पटकते हुए,
ठोकर मारते हुए,
रास्ते में पड़ी, किसी भी चीज़ को,
धारीदार गिलहरी के साथ ही
पेड़ पर चढ़ जाने की इच्छा लिये
खड़े रहते हो देर तक घूरते हुए,
खुरदुरे तने के ऊपर,
फैली हरियाली में छिपे
पक्षियों के झुंड को.
स्कूल में देर से पहुंचने पर,
हर बार पिटते हो इसी तरह
क्लास में पढ़ते समय भी
टीचर से नज़रें चुराकर
दीवार पर देखते हो
छिपकली और कीड़े की
लुका-छिपी का खेल,
तुम चाहते हो
छिपकली की पकड़ से
बाहर निकल जाये कीड़ा
और ऐसा ही होने पर
खुश होते हुए बजाते हो ताली.

महात्मा बाड़े के पीछे, अशोकनगर-४७३ ३३१

व्यंग्य-कहानी

पांच सवाल और शौकीलाल जी

शौकीलाल जी के बढ़ते कदमों में मैंने बेड़ी डाल दी. ज्योंही वे मेरे क्वार्टर के सामने से गुज़रने लगे, मैं उन्हें घेर कर खड़ा हो गया. शाम के आठ बजने वाले थे. मैं फ़ुर्सत में था. टाइम पास करने के लिए मुझे किसी बैठे-ठले की तलाश थी. तभी लपकते-झपकते शौकीलाल जी पर मेरी नज़र पड़ गयी. अरे वाह, इसी को कहते हैं -जहां चाह, वहां राह. गप्पें मारने के लिए भला शौकीलाल जी से अधिक उपयुक्त पात्र और कौन हो सकता है ? मैं बहुत दिनों से उनसे मिला भी नहीं था. यह भी नहीं पता था, ज़नाब आजकल किस शौक से ग्रसित हैं.

-'रुकिए, रुकिए शौकीलाल जी, इतनी तेजी से कहां भागे जा रहे हैं ? देखते नहीं आज सारा कुछ मंद गति से चल रहा है. - हमारी सरकार मंद गति से चल रही है, विकास की योजनाएं मंद गति से चल रही हैं, उद्योग धंधे मंद गति से चल रहे हैं. और आप हैं कि, भागे चले जा रहे हैं. आइए, आज अदरख वाली चाय पिलाऊं आपको.'

-'नहीं, आज नहीं, फिर कभी.' कसमसाते हुए शौकीलाल जी ने कहा. और मेरी बगल से निकल भागने की कोशिश करने लगे. मैं घोर आश्चर्य में पड़ गया. अदरख वाली चाय पर जान छिड़कने वाले शौकीलाल जी आज साफ इन्कार कर रहे हैं. ज़रूर दाल में काला है. कारण जानने की उत्सुकता जग गयी. मैंने पूछा '-क्यों शौकीलाल जी, आज ऐसी कौन सी बात है ?'

-'अरे आज २६ जनवरी है भाई, तुम्हें नहीं मालूम ?'

-'२६ जनवरी को चाय नहीं पीने का कोई नया विधान बन गया है क्या ? चलिए मान लिया कि चाय पीने की मनाही है आज. फिर भी झंडा तो सुबह लहर गया, फिर आप शाम आठ बजे इतने बेचैन क्यों हैं ? कहीं कवि-सम्मेलन है क्या ? क्या आप फिर से कविताई के शौक से ...?'

शौकीलाल जी ने झट बात काट दी -'ओह, नहीं भाई, कविताई तो मैंने कब की छोड़ दी. मैं आज जरा जल्दी में हूं.' व्यग्र होकर उन्होंने कलाई घड़ी देखी और जल्दी-जल्दी पहलू बदलने लगे. इतनी व्यग्रता से बार-बार पहलू बदलना तो बस एक ही तलब के लिए हो सकता है. मैंने सोचा, कहीं शौकीलाल जी का प्रेशर बढ़ तो नहीं गया. शाम का समय भी था. इन्सानियत के नाते मैंने प्रस्ताव रखा -'शौकीलाल जी, आपका क्वार्टर तो अभी दूर है. पांच मिनट तो लग ही जायेंगे. आइए, मेरा बाथरूम यूज कर लीजिए. आइए, संकोच मत कीजिए.' कुछ-कुछ चिढ़े भाव से उन्होंने कहा -'भाई, ऐसा-वैसा कुछ नहीं है. तुम ख़ामख़्वाह परेशान हो रहे हो.' मैं चेहरे का भाव पढ़कर जान गया, शौकीलाल जी कहना कुछ चाहते हैं, कह कुछ और रहे हैं. दरअसल वे कहना चाहते थे. -'तुम ख़ामख़्वाह मेरे पीछे पड़ गये हो.' उनके असामान्य व्यवहार के कारण मेरी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी. मैंने निश्चय कर लिया -छोड़ूंगा नहीं, शौकीलाल जी के बदले तेवर का राज़ जानकर रहूंगा. मैंने दो बार जानना चाहा -'शौकीलाल जी, आज आप इतना बेचैन क्यों हैं ? आखिर २६ जनवरी को ऐसा क्या होने वाला है ? कुछ मुझे भी बताइए.'

-'छप्पर फाड़ के.' उन्होंने बेलाग कहा. मैं संशय में पड़ गया. कहीं बेरोज़गारी की मार खा-खा कर शौकीलाल जी का दिमाग़ तो नहीं फिर गया. आज अटपटी बातें क्यों कर रहे हैं ? मेरे प्रश्न का सही ज़वाब दे देते. भला 'छप्पर फाड़ के' - मुहावरा सुनाने की क्या ज़रूरत थी.

मैं उनका चेहरा गौर से देखने लगा. भीतर-भीतर भयभीत हो रहा था. गली में सन्नाटा था. अंधेरा भी घिर आया था. दिमाग़ फिरे का क्या भरोसा. कब ईंट-पत्थर चला दे ? मैंने डरते-डरते शौकीलाल जी से कहा -'आपकी तबियत तो ठीक है ?'

-'मेरी तबियत तो ठीक है. तुम्हारी तबियत को क्या हुआ ? तुम्हारी जनरल नॉलेज तो एकदम सिफ़र है.'

-'कैसे ?'

-'तुम्हें नहीं पता, आज टेलीविजन पर क्या आनेवाला है ? नहीं पता है तो सुनो -आज सोनी चैनल से एक धांसू प्रोग्राम आने वाला है - जीतो छप्पर फाड़ के.'

मैं मन ही मन हंसा. दाद देनी पड़ेगी शौकीलाल जी की जनरल नॉलेज की. प्रकट में बोला -'अच्छा, ऐसी बात है, बड़ी उम्दा किस्म की जानकारी दी आपने. चलिए फिर, आपके साथ आपके घर में ही इस धांसू कार्यक्रम का लुफ़्त उठाया जाये.'

मैं शौकीलाल जी की तह तक पहुंचना चाहता था. मेरा टाइम पास भी हो रहा था. मेरा प्रस्ताव उन्हें कबाब में हड्डी जैसा लगा. वे शायद एकाग्रचित्त होकर प्रोग्राम देखना चाहते थे. लेकिन मैं जबरन उनके गले पड़ रहा था.

वे हां, ना कुछ नहीं बोले. आगे बढ़ गये. मैं उनके पीछे लग गया. लंबे-लंबे डग भरते हुए वे अपने डेरा आये. बड़ी अधीरता से उन्होंने टी.वी. खोला. फिर दत्तचित्त होकर देखने लगे. उनकी अधीरता देख ऐसा लग रहा था, जैसे अभी-अभी उनके घर का छप्पर फटेगा और धन वर्षा शुरू हो जायेगी.

मैं ख़ुर्दबीन नज़रों से शौकीलाल जी के इकलौते कमरे का कोना-कोना देखने लगा. पूरे कमरे में केवल फिल्मी पत्रिकाएं. पूरा बॉलीवुड शौकीलाल जी के कमरे में समा गया लगता था. साथ में 'टी. वी. वर्ल्ड' मैगजीन की प्रतियां भी धूल फांक रही थीं. सेंटर टेबल पर अख़बारों की फिल्मी कतरनों का अंबार लगा था. सामने रैक पर मेरी नज़र गयी तो वहां अमीर बनने के नुस्ख़ों से भरी भिन्न-भिन्न लेखकों की कई मोटी-मोटी किताबें रखी थीं. कमरे की वर्तमान स्थिति मुझसे चुगली कर रही थी कि, शौकीलाल जी पर आजकल अमीर बनने का शौक सवार है. 'जीतो छप्पर फाड़ के' जैसे गेम शो - जो एक रुपये में ए. सी., कंप्यूटर, बाइक, कार खरीदवाते हैं और पांच सवाल पर करोड़पति बनाते हैं, के प्रति दिवानगी शौकीलाल जी के इस नये शौक की सत्यता पर मुहर लगा रही थी. उत्सुकता फिर भी अपनी ज़गह कायम थी. इतनी सारी फिल्मी पत्रिकाएं ? शौकीलाल जी के इस नये शौक से इनका क्या संबंध हो सकता है ? फिर, टी. वी. वर्ल्ड की इतनी प्रतियां ? मैं शौकीलाल जी के नये शौक के साथ इन पत्रिकाओं का तालमेल बैठाने का प्रयास करने लगा.

कार्यक्रम समाप्त होने के बाद शौकीलाल जी को कमरे में मेरी उपस्थिति का भान हुआ. वे मेरी ओर मुखातिब हुए -'भाई देखा तुमने. कितने सीधे, सरल सवालों के कितनी सहजता से ज़वाब देकर वो लखपति बन गयी ? ए.सी., पी.सी. और कार एक-एक रुपये में उड़ा ले गयी. मैं भी एक-एक सवाल का ज़वाब जानता था. काश, मैं गेम शो में भाग लेता तो वे कीमती सामान मेरे होते!' ललचाई नजरों से शौकीलाल जी ने टी. वी. की स्क्रीन को देखा. चेहरे की लाचारी उनकी मनोदशा दर्शा रही थी. मैंने हमदर्दी जतायी -'इतना अधीर मत होइए शौकीलाल जी. एक दिन आपका भी छप्पर फटेगा.' -'क्या ख़ाक फटेगा !' शौकीलाल जी निराशा के गह्वर में समाते चले गये. -'मैं आज से प्रयासरत हूं, इन प्रोग्रामों में भाग लेने के लिए ? अर्सा बीत गया. आज तक एक भी चांस नहीं मिला. पहले 'कौन बनेगा करोड़पति' में आशा लगाये रहा. फोन से नंबर पर नंबर मिलाता रहा लेकिन क्या मजाल जो एक बार भी नंबर लगा हो. बूथ वाले को यूं ही पैसे लुटाता रहा. उधर से निराश हुआ तो आया 'सवाल दस करोड़ का.' आशा की नयी किरण छिटकी तो लगा अमीर बनने का मेरा सपना अब पूरा होगा. इस बार विनती चिरौरी कर के बगल के वर्मा जी का फोन नंबर लेकर एस. टी. डी. नंबर बायोडाटा के

४ जून, १९५३

लेखन : अनेक कहानियां एवं लघुकथाएं प्रकाशित.

संपादन : दो पुस्तकें संपादित, त्रैमासिक लघु पत्रिका, 'स्वातिपथ' का संपादन संचालन.

सम्मान : विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं द्वारा पांच बार सम्मानित.

साथ लिख भेजा. इंतज़ार पर इंतज़ार किया लेकिन एक दिन भी फोन की घंटी नहीं बजी. हां, मेरा बाजा ज़रूर बज गया. दो चार अच्छे-अच्छे ट्यूशन थे. मुझ अकेले के लिए इतनी आमदनी काफी थी. फोन की घंटी बजने के इंतज़ार में पड़ोसी के टेलीफोन की तरफ कान दिये दिन दिनभर बैठा रहता था. नतीज़ा सारे ट्यूशन हाथ से निकल गये. सोचा टी.वी. वर्ल्ड मैगज़ीन खरीदकर नंबर ही मिलान करूं. शायद किस्मत का सितार बज उठे. ब्लैक में मैगज़ीन खरीद-खरीद कर पूरा कमरा भर दिया. लेकिन नंबर नहीं मिला. दो लाख वाला क्या दो हजारवाला भी नंबर नहीं मिला.'

शौकीलाल जी की शौक कथा सुनकर मेरी हमदर्दी और बढ़ गयी. -'शौकीलाल जी बहुत बुरा हुआ आपके साथ. वो ऊपरवाला भी अजीब शै है. जरा सी अमीरी दे देता आपको तो उसका क्या चला जाता ? यकीन मानिए सारे मुहल्ले की सहानुभूति आपके साथ है. एक दिन आपकी साध अवश्य पूरी होगी. अच्छा, यह तो बताइए आपने इतनी ढेर सारी फिल्मी पत्रिकाएं क्यों इकट्ठा कर रखी हैं ? आप तो फिल्मों के इतने शौकीन भी नहीं हैं.'

-'तैयारी कर रहा हूं.'

-'कैसी तैयारी ?'

-'ले देकर अब एक ही सहारा बचा है अमीर बनने का, वो है 'जीतो छप्पर फाड़ के.' इसी की तैयारी कर रहा हूं. फिल्मी पत्रिकाएं इसलिए पढ़ रहा हूं कि निन्यानवे प्रतिशत सवाल फिल्मों से ही किये जाते हैं.'

मैंने माथा पीट लिया. कितने अच्छे भले थे शौकीलाल जी. क्या हो गया इन्हें. ट्यूशन से अच्छी कमाई हो जाती थी. शिक्षक चयन की प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी भी कर रहे थे. यह कैसा

शौक पाल लिये शौकीलाल जी. अमीर बनने का शौक उतना बुरा भी नहीं है. लेकिन शॉर्टकट रास्ता, जैसा कि टी. वी. के चैनलवाले दिखा रहे हैं, अपनाने के कारण केवल शौकीलाल जी ही नहीं दूसरी कई युवा प्रतिभाएं भी गुमराह होकर अंधेरे में खो जायेंगी.

-'शौकीलाल जी, आप बड़ी लगन से प्रतियोगिता की तैयारी कर रहे थे. फिर यह क्या सूझा आपको ?'

शौकीलाल जी ने कहा -'अरे छोड़ो यार, आजकल कितने नौजवान लोक सेवा आयोग, बैंकिंग सेवा आदि की तैयारियां छोड़कर इसी की तैयारी में लगे हैं. मैं तो मामूली शिक्षक के लिए तैयारी कर रहा था. सिर्फ एक बार इस प्रोग्राम में भाग लेने का मौका मिल जाये. फिर देखना कितने शिक्षक मेरे घर पानी भरते नज़र आयेंगे.'

-'हां सो तो है. लेकिन इस तरह से तैयारी करने से कुछ नहीं होगा. व्यवहारिक तैयारी ज़रूरी है.' मैंने सुर में सुर मिलाना ही ठीक समझा. मुझे पता था, शौकीलाल जी के शौक 'सॉलिड' होते हैं. सलाह के चाहे कितने हथौड़े मारो, टूट नहीं सकते.

-'व्यवहारिक तैयारी कैसे की जायेगी ?'

-'मैं करवाता हूं. मान लीजिए गेम शो हो रहा है. मैं प्रस्तुतकर्ता हूं. आप मेरे सामने कुर्सी पर बैठे हैं. मैं सवाल करना शुरू करता हूं. आप तैयार हो जाइए.'

शौकीलाल जी के चेहरे पर भोर की लाली फूट पड़ी. वे अपनी ज़गह इस तरह संभल कर बैठ गये जैसे कुबेर की कुर्सी पर बैठ गये हों.

मैंने सवाल करना शुरू किया -'मेरा पहला सवाल है - निन्यानवे प्रतिशत बेईमान फिर भी ---- महान. आप को डैश अर्थात खाली ज़गह को भरना है. आपके पास विकल्प हैं - (१) अमेरिका (२) रूस (३) भारत (४) मलेशिया.'

शौकीलाल जी ने छूटते ही ज़वाब दिया -'भारत.' मैंने ताली बजायी -'वाह शौकीलाल जी, आपकी जनरल नॉलेज कमाल की है. बधाई, आपने पहली मंजिल पार कर ली. अब मेरा दूसरा सवाल.'

'सी.बी.आई. ने एक वी.आई.पी. के घर से तीन करोड़ रुपये बरामद किये थे. बताइए रुपये कहां पाये गये थे ? आपके पास चार विकल्प हैं. -(१) शेफ से (२) बिस्तर के नीचे से (३) मकान की छत से (४) गैराज से.'

शौकीलाल जी सकपकाये. चेहरे के भाव से ऐसा लगा जैसे वे जानते हैं लेकिन याद नहीं आ रहा है.

मैंने हौसला बढ़ाया -'घबराइए नहीं, सोच समझकर ज़वाब दीजिए. काफी वक्त है आपके पास.'

शौकीलाल जी सोचते रहे. अचानक चहक उठे -'याद आया, बिस्तर के नीचे से.'

ग़ज़ल

✍ हितेश व्यास

तू कोई सिक्का हवा में उछाल और अब देख,
रगों में अपनी लहू को उबाल और देख ।

हमेशा कुछ अंजाम होगा आलम का,
जरा मशीन में सिक्के को डाल और अब देख ।

बहुत करीब से होता है दोस्त हमला यहां,
जो हो सके तो इज्जत संभाल और अब देख ।

ये खेल ज़रूरी है भाई जीने को,
तू हाथ झोली से बाहर निकाल और अब देख ।

तुझे घिन आयेगी खुद अपनी शक्ल से भी हितेश,
हकीकतों को तू शीशे में ढाल और अब देख ।

के. आर.२९३, सिविल लाइन्स्,
कोटा - ३२४००१ (राज.)

मैंने कहा -'ठीक से सोच लिया आपने ? या फिर और सोचना चाहेंगे. आपका ज़वाब स्वीकार कर लूं ?'

शौकीलाल जी बोले -'मैं हंडरेड परसेंट श्योर हूं जी. तुम स्वीकार करो या न करो. वे महापुरुष नोटों की गड्डियों पर ही सोते थे.'

मैंने ताली बजायी -'आपने बिल्कुल सही ज़वाब दिया शौकीलाल जी. आप दूसरी मंजिल भी फलांग गये. अब आप कुछ ही दूर हैं करोड़पति बनने से.'

-'अब अगले सवाल का ज़वाब दीजिए. आपने सड़कों-चौराहों पर मारपीट होते, सिर फूटते, जूतम-पैज़ार होते बार-बार देखा होगा. ठीक ऐसा ही दृश्य जनप्रतिनिधियों ने उपस्थित किया था जिसमें कितनों के सिर फूटे थे, कितने घायल हुए थे. कुर्सियां टूटी थीं, माइक तक तोड़ डाले गये थे. ऐसा अभूतपूर्व दृश्य उपस्थित करने का प्रथम श्रेय किस प्रदेश को जाता है ?

विकल्प हैं - (१) उत्तर प्रदेश (२) आंध्र प्रदेश (३) हिमाचल प्रदेश और (४) मध्य प्रदेश.'

शौकीलाल जी खामोश हो गये. कमरे में सन्नाटा छाया रहा. उन्हें चुप देख मैंने कहा -'शौकीलाल जी, दिमाग़ पर जोर डालिए. बड़ा आसान सा सवाल है. आपके तीन दोस्त जैसे के तैसे हैं. आप इनका इस्तेमाल भी कर सकते हैं.'

शौकीलाल जी बोले -'ज़वाब नहीं आता, ऐसी बात नहीं है. मैं जरा कन्फ्यूज्ड हूं. संसद और विधान सभाओं में अब ऐसे

जूतम-पैज़ारी दृश्य आम हो गये हैं, इसलिए ज़वाब देने में मुश्किल हो रही है. मेरे ख्याल से पहला श्रेय उत्तर प्रदेश को जाना चाहिए.'

-'अपने ज़वाब में आप कितने परसेंट सही हैं ?'

-'सेंट परसेंट.'

-'जब आप सेंट परसेंट सही हैं तो आपका ज़वाब भी सेंट परसेंट सही है. आपको करोड़पति बनने से अब कोई नहीं रोक सकता. बस, मेरे आखिरी दो सवालों के ज़वाब दे दीजिए और बन जाइए करोड़पति.'

अगला सवाल करने से पहले मैं थोड़ी देर चुप रहा. शौकीलाल जी मेरे सवालों के ज़वाब फटा-फट दिये जा रहे थे. उन्हें थोड़ा हतोत्साहित करना ज़रूरी था. वर्ना वे सिर पर सवार हो बैठते. इसलिए मैंने चेहरे पर गंभीरता की चादर ओढ़ ली -'शौकीलाल जी, मेरे अगले दो सवाल बहुत महत्वपूर्ण हैं. खूब सोच समझकर ज़वाब दीजिएगा. आप तैयार हैं ?'

मेरी चेतावनी का अनुकूल असर पड़ा. शौकीलाल जी सहम गये. बोले -हां तैयार हूं. तुम सवाल करो.'

-'बीती सदी में एक ऐतिहासिक घोटाला हुआ जो पिछले सारे घोटालों पर भारी पड़ गया. आपको बताना है -यह घोटाला किस नाम से जाना जाता है ? विकल्प हैं -(१) तोप घोटाला (२) वर्दी घोटाला (३) दवा घोटाला (४) चारा घोटाला.'

शायद मेरे हतोत्साहित करने का प्रतिफल था. इतने आसान सवाल का ज़वाब शौकीलाल जी नहीं दे पा रहे थे. घबराहट के कारण उनके चेहरे पर पसीने की नन्हीं नन्हीं बूंदें उभर आयी थीं.

मैंने कहा -'घबराइए नहीं शौकीलाल जी बड़ा आसान-सा सवाल है. ज़वाब दीजिए. मैं समझता हूं इस सवाल का ज़वाब वह बच्चा भी दे सकता है जिसे ठीक से नाड़ा भी बांधना नहीं आता.'

शौकीलाल जी पहले सोचते रहे फिर कहा -'मैं एक दोस्त से सहायता लेना चाहता हूं. दोस्त नंबर एक से.'

-'दोस्त नंबर एक अर्थात् हिन्ट. लीजिए हिन्ट हाजिर है. इस घोटाले में दस-दस टन वज़नी सामान को मोपेट द्वारा ढुलाई करने का चमत्कारी काम किया गया था.'

शौकीलाल जी चहक उठे -'चारा घोटाला.'

-'आपने बिल्कुल सही ज़वाब दिया. अब दिल्ली दूर नहीं. मेरे आखिरी सवाल का ज़वाब दीजिए.

मेरा आखिरी सवाल है -भारत दुनिया के टॉप टेन भ्रष्ट देशों में से एक है. सूची में इस देश का स्थान बताइए. विकल्प हैं -(१) पहला स्थान (२) अंतिम से दूसरा स्थान (३) पांचवां स्थान (४) सातवां स्थान.'

इस बार शौकीलाल जी ने बिना देर किये ज़वाब दिया -'पहला स्थान.'

उनकी आवाज़ में दृढ़ता थी. एक क्षण के लिए मैं भी कन्फ्यूज्ड हो गया. मैंने पूछा -'आपको अपने ज़वाब पर इतना पक्का विश्वास क्यों है ? आपने शायद ग़लत ज़वाब दिया है.'

शौकीलाल जी बोले -'भ्रष्ट देशों में आज चाहे भारत का सबसे आखिरी स्थान क्यों न हो लेकिन जिस तेजी से इस मामले में हमारा देश तरक्की कर रहा है, बहुत ही जल्द नंबर एक पर आ जायेगा.'

मैं चुप हो गया. शायद मैं भी शौकीलाल जी की इस बात से सहमत था.

बी III /३५,
मुनिडीह, धनबाद ८२८ १२९ (झारखंड)

गीत

✍ मधु प्रसाद

अधरों पर उग आया मीठा अहसास
बाहों में सिमट गया नीला आकाश,

मौसम ने गाया है
वासंती राग
अल्हड़ से सपनों ने
खेला है फाग
बरगद की छाया है नदिया के पास,

मन मेरा बूंद बूंद
ओस ओस देह
घुमड़ रहे आंखों में
गदराये मेह
कस्तूरी हिरना को चंदन की प्यास,

आंखों ने खोजा है
सपनों का गांव
निंदिया जा बैठी है
गीतों के गांव
आंसू के द्वारे ठिठका मधुमास.

२९, गोकुलधाम सोसायटी,
कलोल - महेसाणा हाईवे, चांदखेड़ा,
अहमदाबाद - ३८२४२४

गुमशुदा दोस्त की तलाश

✍ सुधा अरोड़ा

(बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठें खोलना चाहता है. लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने/सामने.' अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, सुनील कौशिश, बटरोही, राजेश जैन, अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नीसिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, हरिमोहन, दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, अरविंद, सुमन सरीन, फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है सुधा अरोड़ा की आत्मरचना की दूसरी किश्त.)

जैसी कि उसकी आदत है, वह अक्सर मुझे छोड़कर लापता हो जाया करती है. वह मिले तो यही कहेगी कि मैं खुद अपनी ज़िंदगी से उसे बाहर धकेल दिया करती हूं, फिर झूठमूठ अपने को तसल्ली देने के लिए उसे ढूंढने का नाटक करती हूं. उसका कहना है कि मैं उसे तरतीब और तरकीब से ढूंढने की कोशिश ही नहीं करती, अगर करूं तो उसे पाने से ज्यादा आसान और कुछ हो नहीं सकता. खैर, जो भी हो, वह मुझ पर तोहमतें लगाये या मैं उस पर, हकीकत यह है कि वह जब मुझे छोड़कर चली जाती है तो मैं बहुत बेसहारा महसूस करती हूं, उसके साथ-साथ मैं खुद भी अपने से बाहर होती हूं. अपने से बाहर रहकर जैसे अपने को चलते फिरते, सारी पारिवारिक जिम्मेदारियां निभाते हुए एक तटस्थ ठंडेपन से देखती हूं और अपने अधूरेपन पर तरस खाती हूं. मुझे अपने होने पर शक होने लगता है. चाहती हूं कि उसका मेरे साथ होना मेरे लिए हर चीज़ से ऊपर हो. यह कहकर मैं उसके अहं को तुष्ट कर रही हूं. यह जानते हुए भी इसे कहने का जोख़िम उठा रही हूं, क्योंकि सच्चाई यही है. शायद किसी दिन यह सच्चाई दूसरी दुनियावी सच्चाइयों से बड़ी हो जाये. उस दिन का और किसी को हो, न हो, मुझे ज़रूर इंतज़ार है. (इस कॉलम को आधा लिखकर वह ऐसी लापता हुई कि मन हो रहा था, अख़बार के गुमशुदा कॉलम में उसे ढूंढने के लिए इश्तहार दे दूं, पर तभी वह अचानक मेरी पकड़ में आ गयी. आयी तो ऐसी मासूमियत से कि - मैं तो यहीं बैठी हुई थी, तुम मुझे दुनिया जहान में कहां ढूंढ रही थीं यानी हर स्थिति में कसूरवार मैं ही ठहरी.)

❐

उन दिनों वह मेरे साथ थी. कॉलेज की लेक्चरशिप, ढेर सारे ख़त. ज़िंदगी में घटित छोटे-बड़े हादसों से वह बाहर निकल आयी थी. दादी, जो हर वक़्त उसके लिए मां को कोंचती रहती थीं, गुज़र चुकी थीं. जब-जब भी उसका और मेरा तालमेल ठीक-ठाक रहता था, जीना बड़ा भरा पूरा लगता था.

वह मई १९६८ के आख़िरी सप्ताह की दुपहर थी. जब लेटरबॉक्स में हाथ डाला तो दूसरे ख़तों में एक ख़त आई. आई. टी. के एक छात्र जितेंद्र भाटिया का था, जिनकी पहली कहानी 'क्लेड' दिसंबर १९६७ में 'धर्मयुग' में छपी थी. तारीख़ें मुझे कुछ ज्यादा याद रहती हैं. ख़त २२ मई १९६८ का था. छह-आठ महीने 'प्रिय भाई', 'प्रिय बहन' नुमा तयशुदा संबोधन वाले बेहद औपचारिक किस्म के दो चार लाइनों के ख़त 'शुभकामनाओं सहित' आते-जाते रहे. वह इस नये छात्र लेखक की एक बात से बेहद प्रभावित थी कि वह मोहन राकेश की तरह सीधे टाइपराइटर पर कहानियां लिखता है. मेरी मित्र सुशील गुप्ता के पास टाइपराइटर था और उसके साथ फोटो तो खिंचवा ली थी मैंने, जो कलकत्ता के साहित्यकारों पर मनमोहन ठकौर के रिपोर्ताज के साथ 'सारिका' में छपी थी, पर टाइप करने का खट-खट स्वर मुझे कहानी लेखन और कलम के बीच का बड़ा नीरस व्यवधान लगता था. कार्बन लगाकर ही कहानियां लिखना ज़्यादा सुविधाजनक था. जेरॉक्स की सुविधा उन दिनों नहीं थी.

उन्हीं दिनों अचानक मेरा अपेन्डिक्स का ऑपरेशन हुआ था. एक मामूली से ऑपरेशन के लिए बारह दिन नर्सिंग होम में रहना पड़ा. अस्पताल में रहते हुए एक कहानी लिखी, 'निर्वासित', जो 'कहानी' में छपी थी. घर लौटी तो जितेंद्र के कई ख़त इंतज़ार कर रहे थे और उनका कन्सर्न उसे डिस्टर्ब कर रहा था. उन्हीं दिनों 'बलवा' (७० में धर्मयुग में धारावाहिक प्रकाशित) कहानी लिखी थी और उसे 'फेयर' करने से पहले प्रतिक्रिया जानने के लिए बंबई, २५६, हॉस्टल-१, आई. आई. टी. पवई के पते पर भेज दिया गया. कहानी 'बलवा' जो बीसेक पन्नों की ख़ासी लंबी कहानी थी, टाइप होकर लौटी. फिर तो कहानी लिखने के बाद एक सिलसिला ही बन गया. उसके बाद से ही मेरी हर रचना के पहले पाठक जितेंद्र रहे हैं.

ख़त और कहानियां आने-जाने का सिलसिला लगभग दो साल चलता रहा. हम दोनों के परिवारों में अद्‌भुत समानताएं थीं. दोनों पंजाबी होते हुए भी ख़ालिस पंजाबी नहीं थे बल्कि मैं तो 'बंगालन' ज्यादा लगती थी. दोनों लाहौर से विस्थापित परिवार थे, दोनों परिवारों के बुज़ुर्गों ने बंटवारे की त्रासदी को झेला था. दोनों परिवारों के कुछ सदस्य बंटवारे की विभीषिका की बलि चढ़ गये थे. दोनों परिवार कलकत्ता में रह चुके थे. जितेंद्र में कलकत्ता के प्रति, ख़ासतौर पर बंगाली संस्कृति (और बंगाली लड़कियों) के प्रति एक ज़बरदस्त सॉफ्ट कॉर्नर था और मेरी तो रग-रग में कलकत्ता बसा था. बस, दोनों परिवारों में एक बड़ा फ़र्क यह था कि स्कॉटिश चर्च कॉलेज की वादविवाद प्रतियोगिता में हमेशा प्रथम आने वाले मेरे पिता ने दादा के कहने पर इलाहाबाद बैंक की अच्छी ख़ासी नौकरी छोड़कर व्यवसाय के दांव-पेंच जाने बगैर अपने आपको बेमन से व्यवसाय में झोंक दिया था और जितेंद्र के पिता श्री हंसराज भाटिया कलकत्ता के एक प्रतिष्ठित स्कूल के प्रिंसिपल रह चुके थे और मनोविज्ञान पर उनकी किताबें हमारे बी. ए. के सामाजिक मनोविज्ञान के पाठ्यक्रम में चलती थीं. बी. ए. में हिंदी ऑनर्स के साथ मेरा अतिरिक्त विषय मनोविज्ञान था और मैंने राजकमल प्रकाशन और ओरिएन्ट लॉन्गमैन्स से छपी उनकी किताबें पढ़ रखी थीं.

जितेंद्र से जब मैं पहली बार १९७० में कलकत्ता में मिली और हमने शादी का निर्णय लिया. मेरे परिवार की ओर से फौरन सहर्ष सहमति मिल गयी थी, पर जितेंद्र के परिवार से एक ठंडी तटस्थता और प्रतिरोध का सामना करना पड़ा. भाटिया परिवार किसी भी सूरत में ज़ल्दी शादी के लिए राजी नहीं था, जब तक लड़का नौकरी कर अपने पैरों पर खड़ा न हो जाये. जितेंद्र एम. टेक. के बाद पी-एच. डी. भी करना चाहते थे और उन्हें आई. आई. टी. से सिर्फ साढ़े चार सौ रुपये स्कॉलरशिप मिलती थी. जिसमें से फीस के रुपये काटकर हाथ में सिर्फ तीन सौ बीस रुपये मिलते थे. शोध छात्रों को रहने के लिए घर भी नहीं मिलता था. हमारे लिए एक साथ एक ज़गह होना इन सारी असुविधाओं से ऊपर था. बेहद अव्यावहारिक तरीके से हमने इन ज़रूरी चीज़ों को पीछे धकेल रखा था. इस सारी अव्यवस्था के बीच आखिर १२ अक्तूबर १९७१ को जयपुर में तमाम गैरज़रूरी ताम झाम के साथ हमारी ठेठ पंजाबी रीति रिवाज़ से शादी हुई. शादी की हमारी तस्वीरों में हर ज़गह जितेंद्र का मुंह फूला हुआ है क्योंकि वह घोड़ी (जिसे वह गधा कहते थे) पर बैठना नहीं चाहते थे और उन्हें ज़बरदस्ती गोटे किनारी से सजी-धजी घोड़ी पर बिठा दिया गया था.

बहरहाल, कथाकार जितेंद्र भाटिया से सुधा अरोड़ा की शादी के लगभग ३० साल बाद आज भी बहुत से लोगों को मालूम नहीं है कि हम दोनों पति-पत्नी हैं. कलकत्ता में हमारे परिवार के नज़दीकी संबंधी आज भी यही समझते हैं कि हमारी शादी एक तयशुदा अरेंज्ड मैरेज थी क्योंकि अरेन्ज्ड मैरेज की तमाम बेवकूफ़ी भरी रस्म अदायगी रिश्तेदारों को इसी भुलावे में रखने के लिए हुई थी. यूं भी बंबई से कलकत्ता की दूरी, ख़ासी लंबी थी और उनके लिए ये अटकलें लगाना संभव ही नहीं था कि सत्रह सौ मील की दूरी पर रहते दो इंसान बगैर एक दूसरे को देखे या बगैर मिले साथ ज़िंदगी बिताने का निर्णय ले सकते हैं.

जयपुर और कलकत्ता के शादी के समारोहों की गहमागहमी के बाद, जब मैं शादी के सारे तोहफों और भेंटों से लदी-फंदी, आई. आई. टी. के उस एच-टू क्वार्टर के एक कमरे के फ्लैट में पहुंची, जहां एक दीवान और दो कुर्सियों के साथ एक डायनिंग कम स्टडी टेबल था. कमरे में एक खर्र-खर्र करता हुआ बड़ा सा पंखा और दीवारों से झूलते ढेर सारे जाले थे. तब चालीस घंटों की 'आरामदेह रेल यात्रा' के बाद मुझे सबसे पहले सीधे धूल और जालों से जूझना था. उसके बाद खाना पकाने के लिए दाल चावल और मसालों का बंदोबस्त करना था.

शादी हर लड़की को एकबारगी ज़िंदगी की सख़्त ज़मीन पर ला पटकती है. इस शादी के बाद उसे (जिसे कॉलेज में टीचरी और क़लम कागज़ के अलावा कुछ आता ही नहीं था.) बिल्कुल शाब्दिक अर्थ में 'नून तेल लकड़ी' और 'आटे दाल का भाव' पता चल गया था. उन दिनों की याद में जो एक तस्वीर सबसे ज्यादा ज़ेहन पर तारी है. वह है - हाथों में शादी का लाल सफ़ेद चूड़ा पहने एक बेहद मरगिल्ली सी लड़की मोदीखाने में उंगली के इशारे से दूकानदार को समझा रही है कि पाव किलो हरी दाल, पीली दाल, लाल दाल तोल दे क्योंकि दालों के नाम उसे नहीं मालूम थे. मां ने कहा था कि शादी के सवा महीने बाद ही अच्छा मुहूर्त देखकर शादी का लाल चूड़ा उतारना, लेकिन उसने बंबई पहुंचने के आठ दिन बाद ही वे चूड़ियां उठकर ताक पर रख दीं क्योंकि वे घर के कामकाज़ में ख़ासा खलल डालती थीं. एक बार उस एच-टू के क्वार्टर में जितेंद्र के फ्रेंड-फिलॉसफर-गाइड-हीरो कथाकार कमलेश्वर फूलगोभी के परांठे खाने आये तो सुबह से चार घंटे बैठकर मैं चाकू से फूलगोभी कुतरती रही, क्योंकि मुझे यह नहीं मालूम था कि फूलगोभी को कस भी किया जा सकता है और वह परांठे बनाने का ज्यादा आसान तरीका है. एक तो रसोई का क ख ग मुझे आता नहीं था. उस पर तुर्रा यह कि अपने दोस्तों के पूरे जत्थे में जितेंद्र एकमात्र शादीशुदा छात्र थे, सो हॉस्टलों में या सामूहिक रूम से बतौर बैचलर रहने वाले उनके आधा दर्जन दोस्त आये दिन हॉस्टल के खाने का ज़ायका बदलने के लिए खाना खाने हाज़िर हो जाते. और यह सब तीन सौ बीस रुपये में चलाना पड़ता. कहां कलकत्ता का इतना बड़ा परिवार, जहां कॉलेज से लौटकर मां वी. आई. पी. ट्रीटमेंट देतीं. हर वक़्त मेरी पसंद की चीज़ें बना खाने के लिए चिरौरी करती रहतीं और कहां बंबई का यह कमरा, जहां जितेंद्र कॉलेज से ठीक लंच टाइम

पर आते, कभी अकेले, कभी अपने बैचलर कुनबे के साथ और खाकर वापस कॉलेज चले जाते. उनके जाने के बाद अक्सर मुझसे अकेले खाना खाया नहीं जाता.

लेकिन आई. आई. टी. के ये फ़ाकामस्ती के दिन यादगार दिन थे. इन्हीं दिनों में हमने मोहन राकेश का नाटक 'बहुत बड़ा सवाल' मंचित किया जिसमें जितेंद्र ने मोहन की और मैंने हिंदी सुधारने वाली शिक्षिका की भूमिका निभायी. यहीं पर हमने लेक्चर थिएटर में इंगमार बर्गमैन, रोमन पोलांस्की, कुरोसावा, जानूसी की ढेर सारी विदेशी क्लासिक फिल्में देखीं. यहीं 'मूड इन्डीगो' में हमने शास्त्रीय संगीतकारों को सुना और यहीं एक कला की दुनिया से मेरा परिचय हुआ. आई. आई. टी. के इस छोटे से धूल और जालों से भरे खूबसूरत कमरे में ही मैंने यह भी जाना कि मैंने हिंदी के कथाकार से ही शादी नहीं की है, बल्कि विज्ञान, कला, संगीत, नाटक, क्लासिक फिल्मों में अच्छा ख़ासा दख़ल रखने वाले एक जीनियस से मेरा साबका पड़ा है, जो ख़तों में जितना 'वोकल' था, हक़ीकत में उतना ही मितभाषी और चुप्पा है, जिसके भीतर की थाह पाने के लिए मुझे ख़ासी मशक्कत करनी पड़ती थी. कॉलेज और यूनिवर्सिटी में दो बार गोल्ड मेडल पाकर और कुछेक छोटी-मोटी उपलब्धियों पर जो मैं अपने को बड़ा तीसमारखां समझती थी, वह सारा गुमान एकबारगी झर गया था. शादी के बाद ही मुझे पता चला था कि जानने और सीखने के लिए एकैडेमिक दुनिया से आगे भी बहुत कुछ खूबसूरत है.

इस खूबसूरत दुनिया से निष्कासन का फरमान पांच महीने बाद ही जारी हो गया. आई. आई. टी. में काम करने वाले स्टाफ़ के लिए सख़्त हिदायत थी कि वे अपने नाम से अलॉट किये गये घर को सबलेट नहीं कर सकते. हमें पंद्रह दिन के अंदर ही घर खाली करना था. अब शुरू हुई एक अदद छत की तलाश. सुबह टाइम्स ऑफ इंडिया में इश्तहार पढ़कर हम अपना खटारा सेकेंड हैंड स्कूटर घर की तलाश में बंबई की सड़कों पर दौड़ाते और शाम को मायूस-सा चेहरा लिये लौट आते. स्कूटर की पिछली सीट पर बैठे मैं गर्दन ऊपर उठाकर ऊंची बीस मंजिला इमारतों और माचिस की डिबियानुमा घरों को बड़ी हसरत से देखती. बहरहाल, हमारे उस बज़ट में घर मिलना असंभव था, सो मुझे मय शादी के तोहफों और भारी भरकम साड़ियों के, जिनकी तहें भी खोली नहीं गयी थी, वापस कलकत्ता पार्सल कर दिया गया.

इस बार कलकत्ता वह कलकत्ता नहीं था, जहां मैं पहले रहा करती थी. अपना एक हिस्सा मैं बंबई छोड़ आयी थी और जितेंद्र के एक हिस्से को अपने साथ कलकत्ता ले आयी थी. वह हिस्सा मेरे भीतर पनप रहा था. मैं बंबई वापस जाना चाहती थी. पर बंबई में रहने के लिए घर मिलने की कोई सूरत नज़र नहीं आ रही थी. लिहाजा मुझे पूरे दस महीने कलकत्ता रहना पड़ा. उन्हीं दिनों 'युद्धविराम' और 'तानाशाही' (धर्मयुग) कहानियां लिखीं. ३ नवंबर १९७२ को बेहद नाजुक-सी साढ़े चार पाउंड की गरिमा ने जन्म लिया. उन्हीं दिनों मांडू में समांतर लेखक सम्मेलन होने वाला था. मां ने सवा महीने की गरिमा को अपने पास रख लिया कि जब बंबई में घर का बंदोबस्त हो जाये तो इसे ले जाना और मैं जितेंद्र के साथ मांडू चली गयी. उस छोटी-सी पोटली को मैं कलकत्ता छोड़ तो आयी. पर ट्रेन में बैठने के बाद मेरे लिए सफ़र करना दूभर हो गया. 'महानगर की मैथिली' के बीज उस सफ़र के दौरान अंकुरित होने शुरू हो गये थे. बंबई लौटते ही मकान की समस्या फिर मुंह बाये खड़ी थी. जितेंद्र के एक करीबी मित्र प्रो. सुरेश दीक्षित ने हमें अपने घर के एक कमरे में रहने की ज़गह दे दी. उनकी भी नयी-नयी शादी हुई थी. वहां रहते हुए मैं बीमार रहने लगी. एक तो अपनी बिटिया से अलग रह कर मानसिक रूप से मैं कलकत्ता और बंबई के बीच में बंटी हुई थी, दूसरा जितेंद्र कॉलेज से लौटकर या तो लेखन में व्यस्त रहते या ब्रिज में. एक मां और बीवी का पारंपरिक द्वंद्व लगातार जारी था. तीन महीने बाद मैं फिर कलकत्ता लौट गयी. इस बीच जितेंद्र अपने बैचलर मित्रों के कुनबे में फिर रहने लगे. बंबई में मकान की समस्या हर बार सारी रचनात्मकता और संवेदनशीलता को लीलने के लिए तत्पर दीखती थी. अब तो आई. आई. टी. में शोधछात्रों को भी घर एलॉट कर दिया जाता है, तब यह सुविधा नहीं थी. तीसरी बार मैं कलकत्ता से आयी तो क्यू. आई. पी. क्वार्टर्स में बिहार के एक प्रो. जायसवाल के साथ जितेंद्र ने पेइंग गेस्ट की तरह रहने का बंदोबस्त कर रखा था. वहां भी दो-चार महीने बिताकर आख़िरकार कमलेश्वर जी की बदौलत 'सारिका' के एक सहयोगी संपादक श्री आनंदप्रकाश सिंह के चेंबूर वाले हाउसिंग बोर्ड के मकान में ग्यारह महीने की लीज़ पर एक कमरे का मकान मिला तो मैं कलकत्ता जाकर अपनी नन्हीं पोटली को साथ ले आयी, जो अब सवा साल की हो गयी थी. उस मकान में बरसात के दिनों में दीवारें इस कदर भीगी रहती थीं कि बरसात तेज़ होने पर दीवारों से छींटों की बौछार आती थी और उसके बाद फर्श पर पानी बहना शुरू हो जाता था, जिसमें बाथरूम की मोरी से बेशुमार केंचुएं रेंगते हुए घुस आते थे. खाना पकाते समय कड़ाही की ज़गह बार-बार बदलनी पड़ती थी ताकि कड़ाही के अंदर छत से पानी टपक कर न गिरे. अपने मामा और नाना के परिवार की लाड़ली गरिमा के लिए भरे-पूरे परिवार को छोड़कर अकेले मेरे साथ सीलन भरे घर में रहना एक त्रासद अनुभव था. हालांकि गरिमा जितेंद्र की बैचलर मित्र मंडली की बेहद चहेती थी. अपने छोटे-छोटे पैरों पर फुदक-फुदक कर चलती थी इसलिए उसे सब 'स्प्रिंग वाली गुड़िया' कहते थे. सब उसे कंधे पर बिठाये घूमते. इस मकान में रहते हुए हमें छह महीने भी नहीं हुए थे कि एक दिन नोटिस आ गया कि महाराष्ट्र हाउसिंग बोर्ड में रहने वालों की सख़्त चैकिंग होने वाली है.

हमें भी पंद्रह दिन के अंदर घर खाली करने का नोटिस दे दिया गया था. इस मकान की इकलौती सृजनात्मक उपलब्धि थी कहानी 'महानगर की मैथिली', जिसकी मैथिली में ज़ाहिर है, यही 'स्प्रिंग वाली गुड़िया' कहीं-कहीं झांक जाती है.

तब तक जितेंद्र की पी-एच. डी. पूरी हो गयी थी और उन्हें एक मल्टीनेशनल कंपनी में चार अंकों वाली तनख्वाह वाली नौकरी मिल गयी थी. १९७३-७४ में एक हज़ार से ऊपर की तनख्वाह मिलना अहम बात थी. मुझे आई. आई. टी. का माहौल बड़ा आकर्षित करता था और मैं चाहती थी कि जितेंद्र वहीं लेक्चरशिप लेकर उसी कैंपस में बस जायें, पर जितेंद्र को वह रिटायर्ड किस्म की आरामदेय ज़िंदगी रास नहीं आती थी. यहां लोकल ट्रेन की भीड़-भाड़ में सफ़र करना पड़ता था और रिसर्च सेंटर में कड़ी मेहनत थी जो जितेंद्र के टेंपरामेंट को रास आती थी. अक्सर शिफ्ट ड्यूटी होती, सुबह सात से दोपहर तीन तक और कभी-कभी दूसरी शिफ्ट का भी ओवरटाइम. सबसे अहम घटना इस नौकरी के साथ यह थी कि हमें अंधेरी के सात बंगला इलाके में चौथे माले पर एक स्थायी छत मिल गयी थी जिसने सुरक्षा का ज़बरदस्त अहसास दे दिया था. एक दूसरा सकारात्मक अहसास यह था कि इस घर में आते ही, एक मकान से दूसरे मकान भटकने के बीच, गुम होती जाती मेरी उस दोस्त को घर में एक कोना मिल गया था, जहां वह अपनेपन के अहसास से टिकी रह सकती थी.

बंबई जैसे महानगर में एक घर होना दूसरी सारी ज़रूरतों से बड़ा था. यह स्थायी घर हर वक़्त जितेंद्र की मित्र मंडली से अटा रहता था, जिसमें दूरदर्शन के टी. एन. मोहन और ऐनेट थे जिन्होंने दूरदर्शन के 'समांतर' कार्यक्रम के अंतर्गत १९७६ में कहानी 'युद्धविराम' पर नाना पलसीकर और सीमा को लेकर एक आधे घंटे की टेलीफिल्म बनायी. फिर हर महीने इस कार्यक्रम के अंतर्गत साहित्यिक कृतियों पर फिल्में बनती रहीं. जितेंद्र की कहानी 'रक्तजीवी' पर दो घंटे की दूरदर्शन की पहली फीचर फिल्म टी. एन. मोहन ने ही बनायी थी, जिसमें नमित कपूर और रीता भादुड़ी थे. ज्यादातर शूटिंग वर्सोवा में हुई थी इसलिए फिल्म की पूरी यूनिट रात-बिरात हमारे 'सी क्रेस्ट' वाले घर में डटी रहती. ह्रदयलानी फिल्म की कन्टीन्युटी लिखते थे और कई बार आधी-आधी रात को नशे में धुत्त हमारे घर में धमक कर चौथे माले से कूद कर जान देने पर उतारू हो जाते थे. ऐसी ही नौटंकी फिल्म्स डिवीजन पूना के डायरेक्टर मित्र चंद्रशेखर नायर (जिन्हें हम गुरुदत्त का अवतार कहते थे) किया करते थे. खाने-पीने के बाद वे 'प्यासा' और 'काग़ज के फूल' के गाने बड़े सुर में गाते थे. इनमें एक कमलेश्वर ही ऐसे थे, जो अपने होशोहवास खोते नहीं थे, बस, लच्छेदार भाषा में धाराप्रवाह झूठ-सच थोड़ा और ज्यादा बोलने लग जाते थे और हर झूठ पर कानों को छूकर उसे सच बताने की पंक्तिबद्ध कसमें खाया करते थे. यहीं पर दया पवार ने अपने उपन्यास 'बलुत' के अंश पढ़कर सुनाये थे जिसे वह उन दिनों लिख रहे थे. यहीं मैंने अपनी कहानी 'दमनचक्र' (सारिका : १९७५) लिखी थी जो हर छुट्टियों में कलकत्ता से लौटने के बाद मेरे साथ-साथ लिथड़ती कलकत्ता से बंबई तक चली आती थी. उसे लिख कर एक राहत की सांस ली थी मैंने. और एक कहानी 'सात सौ का कोट' (धर्मयुग : १९७७) दिल्ली के एक पंजाबी दर्जी के चरित्र पर लिखी थी जिसे रेडियो के लिए एकालाप नाटक के रूप में प्रसारित किया गया था. सन १९७७ में कमलेश्वर संपादित 'सारिका' तब तक पाक्षिक हो चुकी थी. इसी घर में मैंने और जितेंद्र ने मिलकर 'सारिका' का एक कॉलम 'आम आदमी, ज़िंदा सवाल' लिखना शुरू किया था. यहीं पर मेरा दूसरा कहानी संग्रह 'युद्धविराम' छपा था जिसमें सिर्फ़ छह कहानियां थीं. लेखन कम हो गया था पर जो भी थोड़ा बहुत लिखा जाता था वह सुकून देता था. इस कहानी संग्रह पर जब उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का पुरस्कार मिला तो मुझे हैरानी हुई थी. मेरा तो किसी से परिचय नहीं था ! मैंने कहीं किताब नहीं भेजी थी. ४०२ 'सी-क्रेस्ट', सात बंगला, वर्सोवा में बिताये ये दिन हमारे सबसे अच्छे और भरे-पूरे दिन थे. ज़िंदगी बहुत खुशनुमा और सुरक्षित चल रही थी कि 'कथायात्रा' ने एक ग्रहण की तरह हमारी खुशियों पर काली चादर डाल दी.

'सारिका' के दिल्ली स्थानांतरण के बाद कमलेश्वर जी के साथ 'कथायात्रा' नाम से एक मासिक पत्रिका की बेहद महत्वाकांक्षी योजना बनी. जितेंद्र पेशे से इंजीनियर थे, पर लीक से हटकर एक पत्रिका निकालने का उनका एक सपना था. इस सपने को वह 'कथायात्रा' में साकार होता देखना चाहते थे, सो उन्होंने अपने आपको इसमें पूरी तरह झोंक दिया. घर से अपना इकलौता स्टडी टेबल और टाइपराइटर भी ले गये. सुबह सात बजे से तीन बजे की शिफ्ट की नौकरी करते और घर लौटकर आधा घंटा भी मुश्किल से रुकते और भागते, जानकी कुटीर, जुहू में 'कथायात्रा' के दफ़्तर. इसके बाद घर लौटने का कोई समय नहीं होता. अक्सर रात-रात भर वहीं रहते और सुबह छह बजे लौटकर नहा धोकर एक प्याला चाय पीकर फिर अपनी शिफ्ट ड्यूटी पर चले जाते. कई बार शाम को मैं अपनी साढ़े चार साल की बेटी गरिमा का हाथ थामे जितेंद्र का रात का टिफिन लेकर वर्सोवा से २५५ नं. की बस लेकर जुहू जाती और पत्रिका के काम में हाथ बंटाती. 'बस, अभी चलता हूं,' कहते-कहते वे रात के साढ़े दस-ग्यारह बजे मुझसे गरिमा को वापस लेकर लौट जाने को कहते और मैं उस सूनसान इलाके में लगभग खाली बस में बिटिया के साथ वर्सोवा के अकेले घर में वापस आ जाती और रात भर बाल्कनी में टंगी रहकर आत्महंता मनःस्थिति से गुज़रती. जितेंद्र को समझाने की कोशिश करती तो यह भड़क जाते और मुझे लताड़ने लगते. अपने 'गॉड फादर' के खिलाफ़ एक वाक्य भी सुनना उन्हें गंवारा नहीं था. कमलेश्वर जी के

फिल्मी रंग-ढंग और ऐय्याशियां किसी से छिपी नहीं थीं (अब तो ख़ुद भी उन्होंने उनका खुलासा अपने संस्मरणों में किया है). 'सारिका' से उनका फिल्मी दफ़्तर शिफ्ट होकर 'कथायात्रा' में आ गया था. हमारे मित्र मज़ाक करते कि 'कथायात्रा' की ओखल में जितेंद्र का सिर और कमलेश्वर का मूसल है. जितेंद्र के सिर पर पत्रिका का जुनून सवार था. इस जुनून में उनके भागीदार थे - लाजपतराय, देवेश ठाकुर, साजिद रशीद, आत्माराम और माताराम खरवार. पत्रिका पहले अंक से ही काफी लोकप्रिय रही और सिर्फ़ मध्यप्रदेश में इसके सौ से ऊपर एजेंट थे और इसके साथ ही सौ-सौ रुपये भेजने वाले असंख्य ग्राहक. एक शाम हम वहां पहुंचे तो पता चला, कमलेश्वर जी ने एक ऑफिस का सेकंड हैंड फर्नीचर चौदह हज़ार में ख़रीद लिया है (२२ साल पहले के वे चौदह हज़ार आज के दो लाख के बराबर तो होंगे ही). कहां हम दरी पर बैठकर काम करने में खुश थे, कहां गद्दीदार, रैक्सिन की रिवॉल्विंग कुर्सियां और कांच लगी मेज़ें ! कुर्सी-मेज़ से मतभेदों की शुरूआत हुई और सामग्री तक पहुंची, जहां प्रधान संपादक (कमलेश्वर), संपादक (जितेंद्र भाटिया) के कंधे पर रख कर गोलियां चला रहे थे और पुराने हिसाब चुका रहे थे. फर्नीचर की खरीददारी के बाद सब लोग उन्हें 'सेठजी' कहने लगे थे. बहरहाल, जितेंद्र को अपनी नौकरी से तबादले के ऑर्डर आ गये. उनके जाने के बाद 'कथायात्रा' का पांचवां और आखिरी अलविदा अंक आ गया.

अपने धराशायी सपनों को लादकर हल्दिया से हम कलकत्ता आ गये. कलकत्ता गये अभी छह महीने भी नहीं हुए थे कि कई मित्रों ने कमलेश्वर जी का एक छपा हुआ सर्क्युलर, जिसमें आर्थिक पक्ष का दारोमदार जितेंद्र को ठहराया गया था अपनी टिप्पणी के साथ डाक से भिजवाया. कमलेश्वर की मानसिकता का पर्दाफाश करते हुए रा. शौरिराजन से लेकर लाजपतराय के ख़तों का पुलिंदा आज भी रखा है, जिसे एस. पी. सिंह और शिशिर गुप्त 'रविवार' की कवर स्टोरी में देने जा रहे थे, पर जितेंद्र ने उन्हें रोक लिया कि ओछेपन का ज़वाब उन्हीं के स्तर पर दिया जाये, यह ज़रूरी नहीं. जैसा जितेंद्र का स्वभाव है वह चुप रहे. कभी किसी से सफ़ाई देने की उन्होंने ज़रूरत नहीं समझी, पर जितेंद्र के लिए यह बहुत बड़ा सदमा था. वह पहले से ज़्यादा खामोश हो गये थे. अपने 'गॉड फादर' के असली चेहरे ने साहित्य और साहित्यकारों, दोनों से उनका एकबारगी मोहभंग करवा दिया था. कलकत्ता जाकर हम दोनों साहित्यकारों की दुनिया से बिल्कुल कटकर अपने में सिमट गये थे. 'कथायात्रा' का यह हादसा हमारी ज़िंदगी में न हुआ होता तो जितेंद्र अपने इंजीनियरिंग के पेशे को छोड़कर पूरी तरह संपादक-लेखक हो गये होते. इस हादसे ने उनके कैरियर की दिशा ही बदल दी.

'कथायात्रा' के इस एक साल ने हम दोनों की रचनात्मकता को पूरी तरह सोख लिया था. कलकत्ता पहुंचकर मैंने एक कहानी लिखी 'बोलो ! भ्रष्टाचार की जय !' जो साप्ताहिक हिंदुस्तान में १९८२ में छपी थी. कुछेक रचनाएं ऐसी होती हैं जिन्हें लिखकर बड़ा सुकून और संतोष मिलता है. 'बोलो ! भ्रष्टाचार की जय !' ऐसी ही कहानी थी.

कलकत्ता जाने के बाद मेरी दुनिया काफी सिमट गयी थी. कलकत्ता में ही वह विराट तिमंजिला घर था जहां मैंने अपनी ज़िंदगी के पच्चीस-छब्बीस साल गुज़ारे थे, जिसकी दीवारों में दरारें पड़ रही थीं, दीवारों का पलस्तर झर रहा था और वह घर बुरी तरह बिखर रहा था. मां चारों तरफ से घिरी थीं और घर को बचाये रखने में पस्त हो रही थीं. मेरी इकलौती बहन, जो बहुत खूबसूरत और आत्मकेंद्रित थी अपना मानसिक संतुलन खोकर ज़िंदा लाश की तरह घर भर में डोलती थी. वह या तो दमे की भयंकर तकलीफ से ग्रस्त रहती या मानसिक अस्वस्थता से उग्र हो उठती. उन्हीं दिनों एक के बाद एक कई मानसिक अस्पतालों को करीब से देखना बेहद तकलीफदेह था. परंपरा से बंधे एक मध्यमवर्गीय परिवार में एक मासूम लड़की अपने भोलेपन की सजा भुगत रही थी. बहुत चाहकर भी मैं कभी उसके बारे में क़लम उठा नहीं पायी क्योंकि इसके लिए जिस तटस्थता और निर्वैयक्तिकता की ज़रूरत थी, उसका मुझमें नितांत अभाव था. एक ही शहर में रहते हुए उस घर की परेशानियों से अपने आपको पूरी तरह काट लेना मेरे लिए असंभव था. मैं उस दर्दनाक माहौल से अपने को खींचकर बाहर निकालने में असमर्थ थी. अक्सर उसकी इस स्थिति के लिए मैं अपने को जिम्मेदार महसूस करती थी. वह जब-जब मेरे पास आती थी मेरा अपराधबोध उसके समानांतर मेरे सामने खड़ा होता था. मां और पिता का पूरा ध्यान हमेशा मेरी ओर केंद्रित रहा था. इस बीच चुपचाप वह लगातार उपेक्षित होती रही और कब अपने खोल में सिमट गयी, कब उसने अपने आपको एक कमरे में बंद कर लिया, किसी को पता ही नहीं चला. प्राइमरी कक्षाओं में हर बार डबल प्रमोशन लेने वाली, हमेशा किताबों पर झुकी रहकर एम. ए. करने वाली और हिंदी में बेहद संवेदनशील कविताएं, कहानियां और लेख लिखने वाली वह बेहद ज़हीन लड़की अचानक एक दिन ऐसी हंसी हंसने लगी जिसमें रोने की आवाज़ सुनाई देती थी. जब तक उसकी इस स्थिति ने सबका ध्यान खींचा, बहुत देर हो चुकी थी.

❐

८ मार्च १९८२ को, गरिमा के लगभग दस साल बाद हमारी 'बुढ़ौती की संतान', दूसरी बेटी गुंजन पैदा हुई. सचमुच बेटी की मां होना बहुत बड़ी नियामत है (आज मेरी दोनों बेटियां मेरी सबसे अच्छी दोस्त हैं). गरिमा की तरह ही गुंजन भी पौने पांच पौंड की नन्हीं-सी पोटली थी और उसे लेकर जब मैं

कलकत्ता के वुडलैंड्स नर्सिंग होम से बाहर निकली तो मेरा वज़न अड़तीस किलो था. गुंजन को उसी तरह सांस की तकलीफ रहती, जैसे मुझे बचपन में थी. उसे लेकर हम डॉक्टरों के चक्कर काटते रहते. लेखन पर पूरी तरह पूर्णविराम लग चुका था. गुंजन की बीमारी में साल दर साल कैसे गुज़रते गये, पता ही नहीं चला. एक बेचैनी, एक छटपटाहट भीतर ही भीतर घर कर रही थी पर मैं उसे पहचान नहीं पा रही थी. कलकत्ता के उन दिनों की याद में मेरे ज़ेहन में दो तस्वीरें उभरती हैं - एक, गुंजन के बुखार से तपते माथे पर बर्फ़ की पट्टियां रखती कमज़ोर दिल मां, जिसकी जान उसकी बेटी में बसती थी. दूसरा, हर ओने-कोने से धूल-मिट्टी बुहारने और घर को व्यवस्थित और कलात्मक बनाये रखने में बझी एक औरत. इसके पीछे का मनोविज्ञान तो मैंने बहुत बाद में सिमोन द बुवा की किताब 'द सेकेंड सेक्स' में पढ़ा कि औरतें अपने अस्तित्व के शून्य को भरमाये रखने के लिए सफ़ाई अभियान में अपने को सनकी होने की हद तक झोंक देती हैं. अब पीछे देखती हूं तो लगता है, उस किताब को पहले पढ़ लिया होता तो कम से कम इसे पहचान लेने में समर्थ हुई होती कि उस धूल-मिट्टी के साथ-साथ मेरी हमदम, मेरी दोस्त भी घर से बाहर बड़ी बेमुरव्वत से धकेली जा रही है. उस बीच पड़ोसियों में 'गुंजन की ममी' और जितेंद्र के ऑफिस के सहकर्मियों और उनकी बीवियों के बीच 'मिसेज़ भाटिया' के रूप में मैं प्रतिष्ठित हो चुकी थी. उन्हीं दिनों दूरदर्शन के लिए कुछ साक्षात्कार कार्यक्रम करने के बाद ही लोगों ने जाना कि मिसेज़ भाटिया का नाम सुधा अरोड़ा भी है.

कलकत्ता दूरदर्शन के लिए पहला साक्षात्कार उर्दू की बहुत तेज़-तर्रार और मेरी पसंदीदा कथाकार इस्मत चुगताई का था और उनसे एक सवाल पूछा था कि अंग्रेजी की एक कहावत है कि इंजीनियर्स मेक द बेस्ट हस्बैंड, राइटर्स द वर्स्ट, अक्सर लेखक बुरे पति होते हैं, क्या लेखिकाएं अच्छी बीवियां होती हैं तो उन्होंने ठहाका लगाकर कहा था कि लेखिकाएं अच्छी बीवियां भी हो सकती हैं, पर मर्द एक बार में एक ही किरदार निभा सकता है. तब दूरदर्शन रंगीन नहीं था, ब्लैक एंड व्हाइट दूरदर्शन पर यह इस्मत आपा का पहला साक्षात्कार था. तब उनकी याददाश्त बड़ी तेज़ और आवाज़ बुलंद थी. बाद में रंगीन टी. वी. पर उनका इंटरव्यू देखा था जिसमें वह काफी कमज़ोर दिखाई दे रही थीं. बांग्ला की प्रसिद्ध लेखिका महाश्वेता देवी से नलिनी सिंह के 'सच की परछाइयां' के लिए पलामू के बंधुआ मजदूरों के बारे में दस मिनट का साक्षात्कार लेना था और बात करने बैठे तो अपनी टूटी-फूटी हिंदी में महाश्वेता दी बड़े मन से बोलीं. पैंतालिस मिनट का साक्षात्कार रिकॉर्ड किया गया, इसे आधे घंटे के कार्यक्रम में दिखाया गया था. इसके अलावा मन्नू भंडारी, राजेंद्र यादव, भीष्म साहनी, गोविंद निहलानी मेरे प्रिय व्यक्तित्व थे, जिनका साक्षात्कार लिया. राजेंद्र जी से पुरानी पहचान थी, पर इस साक्षात्कार के बाद मन्नू जी मेरी बहुत अच्छी मित्र बन गयीं. इस साक्षात्कार में उन्होंने एक बहुत अच्छी बात कही थी कि एक लेखिका पहले मां होती है, फिर पत्नी, तीसरे नंबर पर उसका रचनाकार आता है, पर एक लेखक के लिए पहले नंबर पर उसका लेखक होता है, दूसरे नंबर पर उसके दोस्त और पत्नी का दर्ज़ा तो उसके लिए तीसरे-चौथे नंबर पर ही आता है. मैं उन दिनों पूरी तरह से अपने मां और पत्नी वाले किरदार को ही जी रही थी.

कलकत्ता में मैंने लंबे ग्यारह साल गुज़ारे - घटनात्मक लेकिन रचनात्मक दृष्टि से पूरी तरह बंजर, असृजनात्मक ! उन सालों को दो-चार पैराग्राफों में समेटना आसान नहीं है पर इन्हीं ग्यारह सालों में मैंने अपने 'औरत' होने को शिद्दत से महसूस किया. औरत के अलग-अलग रूप और किस्मों को जाना, यह भी जाना कि सतह के नीचे एक ख़ास तरह की समानता है जो हर किस्म में मौजूद है. मेरे ही इर्द-गिर्द औरतों का यह संसार मौजूद था. एक ढहता हुआ मकान था, जहां सहनशीलता का मूर्तिमान स्वरूप मां थीं, सूनी आंखों वाली दहशतज़दा अर्द्धविक्षिप्त बहन थी, तलाक की कगार पर पहुंची भाभी थी, दूसरी ओर मेरा अपना एक 'घर' था, जहां मैं एक 'औरत' थी - अपने नये स्वरूप को विस्फारित आंखों से पहचानने की कोशिश करती हुई. ससुर की अचानक मृत्यु के बाद मेरे पास आकर रहती मेरी सत्तर वर्षीय सास थीं (अब वे बयानवे वर्ष की हैं), दो ननदें थीं और थीं मेरी दो बेटियां, जो इस पूरे व्यूह में मेरे लिए ऑक्सीजन का काम कर रही थीं. कलकत्ता प्रवास के इन्हीं सालों में महसूस किया कि मैंने अब तक जो भी लिखा, वे सारे शब्द नाकाफी हैं. मुझे लगता था कि मैं कितने बड़े भ्रमजाल में जी रही थी कि हमारा लेखन ऐसा हो जिसे पढ़कर यह न लगे कि एक महिला ने लिखा है, कि महिला लेखन विशेषांक में रचना क्यों भेजी जाये, क्या हम पुरुष लेखकों से कमतर हैं, कि लेखन को महिला और पुरुष के अलग-अलग खांचे में क्यों आंका जाये ! कभी किसी प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका का भी पत्र आता कि महिला कथाकार विशेषांक में अपनी रचना भेजिए तो मैं कच्ची काट जाती. अपने आपको पुरुष रचनाकारों के बीच छपा देखने में और उनके नामों के बीच अपने नाम का शुमार होते देखना ज़्यादा अच्छा लगता. यह सोच इन ग्यारह सालों में बदल गयी थी. लगता था कि ऐसा लेखन होना चाहिए, जो पुरुष लेखक नहीं लिख सकता और न उन महिला रचनाकारों के बूते का है जिनके 'पांव न फटे बिवाई' और जिन्होंने अपनी ज़िंदगी में औरत होने की संवेदनशीलता को महसूस ही नहीं किया.

उन्हीं दिनों तीन हिस्सों में एक बड़े उपन्यास ने आकार लेना शुरू किया. ७ जून १९८५ को मैंने उन नोट्स को सामने रखकर आखिरकार लिखना शुरू किया. अक्सर घर में सबके सो जाने के बाद मैं डाइनिंग टेबल पर बैठती और रात के दो तीन

बजे तक लिखती. पहले हिस्से के आठ अध्याय लिखे जा चुके थे कि अचानक हमें मकान बदलना पड़ा. कलकत्ता में यह हमारा तीसरा मकान था. बहुत बड़ा और हवादार. यह मकान अलीपुर की मुख्य सड़क पर था. सारा दिन ट्राम, बस, रिक्शे का शोर और डीजल मिश्रित काली चिकनाई युक्त धूल. यह मकान हमारी 'छुटकी' को रास नहीं आया. उसकी तबीयत फिर खराब रहने लगी. कभी टायफायड, कभी पीलिया, कभी चिकन पॉक्स. हर वक़्त डॉक्टर और नर्सिंग होम के चक्कर. जब तब मैं उसी डाइनिंग टेबल पर दुबारा अपने उपन्यास के पात्रों के साथ बैठना चाहती पर वे न जाने क्यों मुझसे दूर जा चुके थे. उस मकान में चार साल रहे. पता नहीं लेखक पहाड़ों पर और वातानुकूलित ज़गहों पर जाकर उपन्यास कैसे लिख लेते हैं. मुझे तो अपने पुराने घर का वही कोना चाहिए था, जहां कभी कभी टेलीविजन पूरे वॉल्यूम में चल रहा होता, गरिमा अपनी सहेलियों के साथ शोर मचा रही होती, गुंजन टी.वी. के सामने नाच रही होती और मैं आराम से अपने उपन्यास के पात्रों के बीच इत्मीनान से बैठी होती. बहुत कोशिश की कि पुराने घर की उस सपाट सफ़ेद दीवार को अपनी आंखों के सामने ले आऊं और लिखूं पर कोई तरीका कारगर होता दिखाई नहीं देता था. यह उम्मीद ज़रूर थी कि कभी न कभी वह छूटा हुआ सिरा फिर से हाथ में आ जायेगा. 'दरिद्र की थाती' की तरह मैं उन लिखे हुए पन्नों को बारह साल सहेजे रही. जब उसे दुबारा निकाला तो लगा, औरत की दुनिया कहां से कहां पहुंच चुकी है और इस उपन्यास में मैंने क्या पुराना राग अलापा है. (लगभग दो साल पहले जब मुझे लगा कि अब यह कभी पूरा नहीं हो पायेगा तो मैंने उस उपन्यास का एक अध्याय 'सुजाता तनेजा की ज़िंदगी का आखिरी दिन' कथादेश (दिसंबर १९९८) में कहानी की तरह प्रकाशित करवा दिया.)

ग्यारह साल कलकत्ता प्रवास के बाद फिर बंबई. नौकरीपेशा लोगों के साथ यह बहुत बड़ी समस्या होती है. १९७१ में शादी के बाद यह हमारा नौवां मकान था. बड़ी बेटी गरिमा बंबई आई. आई. टी. के हॉस्टेल में रहने चली गयी थी. अब मेरे पास सिर्फ़ छुईमुई-सी गुंजन थी और अपना बचा-खुचा, आधा अधूरा अस्तित्व. अपनी कलम को वापस पाने के लिए मैं बहुत छटपटा रही थी. बारह सालों में मैंने साहित्य की दुनिया से अपने आप को निष्कासित कर लिया था. किसी पत्रिका में एक ख़त तक नहीं लिखा था. मेरा वह अधूरा उपन्यास मेरे लिए मराठी में जिसे कहते हैं ' पनवती ' (इसका हिंदी अनुवाद बड़ा मुश्किल है.) सिद्ध हो रहा था. वह मेरी दुखती रग बन गया था. न वह आगे बढ़ता था, न मुझे आगे बढ़ने देता था.

बंबई आने के बाद मैं कुछ करने के लिए बहुत छटपटा रही थी. हाथ में कलम पकड़ती तो लगता, मुझे लेखन का क ख ग भी नहीं आता है. लेखन के नाम पर मैं सिर्फ डायरी लिखती थी. मित्रों से मैं मज़ाक में कहती कि मुझे अंबाला छावनी के कहानी लेखन महाविद्यालय से कहानी लेखन फिर से सीखना चाहिए पर भीतर एक खोखलापन घर करता जा रहा था, जहां हर वक़्त कुछ पछाड़ खाकर दम तोड़ता था और आधी-आधी रात को अचानक मैं उठकर चीखने लगती. इस स्थिति की कोई पहचान नहीं थी. न मैं किसी से इसे बांट सकती थी. कलम के साथ का छूट जाना मेरे लिए किसी बीमार की सांसों से ऑक्सीजन खींच लेने जैसा था. तभी ६ दिसंबर १९९२ को बाबरी मसजिद का ध्वंस हुआ. हम बांद्रा के माउंट मेरी के जिस इलाके में रहते थे, वहां से बाहर माउंट मेरी की विख्यात सीढ़ियों से नीचे आते ही दाउदी वोहरा मुस्लिम का जमातखाना और उनकी सात बहुमंजिला इमारतें 'युबान अपार्टमेंट्स' थीं. टी.वी. पर ख़बर आने और दूकानों के शटर धड़ाधड़ बंद होने के साथ मैं और गुंजन सड़क का ज़ायज़ा लेने सीढ़ियों से नीचे उतरे. वहां ज़गह-ज़गह झुंड बनाकर जवान लड़के, आदमी खड़े थे. पूरे इलाके में जानलेवा तनाव था. कहीं कोई एक भी महिला नहीं थी. ज़वान लड़कों की आंखों में खून उतर आया था. एकबारगी हम दोनों को लगा, हम घिर गये हैं. उल्टे कदम हम नीची निगाहें किये घर की ओर लौट आये. अपने दादा-दादी से सुनी बंटवारे की त्रासदी दिमाग में ताजा हो रही थी जिसे मैं अपने उपन्यास के एक अध्याय में लिख चुकी थी. दिसंबर, जनवरी और फिर ६ फरवरी को हर महीने बंबई के इलाकों में खून-ख़राबा दोहराया जाता. तभी जनवादी लेखक संघ ने उर्दू हिंदी लेखकों की एक संयुक्त मीटिंग बुलवाई थी. मुझे भी कुछ बोलने के लिए कहा गया था. मैंने छोटा-सा एक आलेख लिखा 'इस जुनून का अंत कब होगा.' वहां मैंने इस आलेख को और साथ ही शौकत आपा की दी हुई उर्दू के मशहूर शायर कैफी आजमी साहब की ताज़ा नज्म 'राम का बनवास' पढ़कर सुनाई. इसके बाद १२ मार्च १९९३ को बंबई में बम विस्फोट हुए, तब मैं घर से बाहर थी और जलते हुए शहर के बीच से होती हुई घर पहुंची थी. वह अनुभव चेतना को झकझोर देने वाला था. कई दिन वह झुलसा हुआ शहर दिमाग पर वज़न की तरह रहा. आखिर मैंने उसे रिपोर्ताज के रूप में लिख डाला. यह तीन साल मेरी डायरी में बंद पड़ा रहा. फिर मैंने इसे कहानी के फॉर्म में लिखा. यह कहानी 'काला शुक्रवार' हंस के दिसंबर १९९६ अंक में प्रकाशित हुई थी. ६ दिसंबर की इस त्रासदी ने अनजाने ही मेरे हाथ में दुबारा कलम पकड़ा दी थी. १९९२ के बाद के हिंदू मुस्लिम दंगों में कुछ स्वैच्छिक संगठनों के बीच राहत कार्य करते हुए अजीब से अनुभवों से गुज़रना हुआ. एक और कहानी 'जानकीनामा' भी उन्हीं दिनों लिखी, जो नासिरा शर्मा संपादित 'वर्तमान साहित्य' के महिला कथा लेखन विशेषांक (१९९५) में छपी थी.

१९९२-९३ के बंबई के दंगों के बाद किये राहत कार्य के दौरान मेरी पहचान बिमल रॉय की बेटी और बासु भट्टाचार्य की पत्नी रिंकी भट्टाचार्य और उनकी संस्था 'हेल्प' से हुई. रिंकी

दी से परिचय मेरे बंबई आने के बाद की मेरे लिए सबसे अहम घटना थी. यहां जया, यास्मीन, कृष्णा सर्वाधिकारी, प्रमिला तनेजा और कुमकुम गुप्ता थीं और ढेर सारी महिलाएं अपनी समस्याओं के साथ. यहां जिस तरह का काम किया जाता था, मुझे लगता था, वह लिखने से कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण है. लेखन शायद किसी को मानसिक संतोष या राहत देता होगा, शायद कभी अपनी समस्याओं से जूझने-निकलने का रास्ता भी दिखाता होगा लेकिन यहां आत्महंता मनःस्थिति की कगार पर पहुंची हुई वे महिलाएं ही आती थीं, जो ज़िंदगी के सारे दरवाज़े बंद देखकर आखिरी छटपटाहट में या जीने की आखिरी उम्मीद लिये अपनी बरसों से बंद ज़बान को खोलती थीं और हम अनजान महिलाओं के सामने अपने आपको उड़ेल देती थीं. उन्हें समस्याओं के चक्रव्यूह से बाहर निकालना कई बार मुश्किल होता था. अक्सर महिलाएं इस हद तक झेलने और प्रताड़ित होने की आदी हो चुकी होती थीं कि अपनी बात कह चुकने के बाद की राहत ही उन्हें अपने लिए 'अल्टीमेट' लगती थी. यहां औरतों के अलग-अलग शेड्स थे. ऐसा नहीं था कि हर बार औरत सही ही होती थी. पर कई बार उसे ग़लती का अहसास कराना भी टेढ़ी खीर साबित होता था. हरेक औरत की अपनी कूव्वत के अनुसार ही रास्ते खुलते थे. कुछेक सिटिंग्स के बाद और फिर कुछेक महीनों बाद ऐसी मुरझाई हुई औरतों के बदले हुए रूप एक अनकहे आत्मसंतोष से भर देते थे. बुझी हुई आंखों में एकबारगी जीने की ललक हमारे हौसले बढ़ा देती थी. कई बार दूसरी औरतों की ज़िंदगी के मसले सुलझाते हुए ख़ुद हमारे अपने मसले बड़ी सहजता से समाधान पा लेते थे. शुरू में औरतों की समस्याओं से रूबरू होना एक डिप्रेशन या फिर नाराज़गी से भर देता था. धीरे-धीरे मैंने उनसे एक दूरी बनाना सीख लिया था और तभी मैं लिख पायी औरतों की समस्याओं पर कहानियों की एक श्रृंखला, जिसकी शुरुआत हुई थी 'रहोगी तुम वही' (हंस : जून १९९४), 'यह रास्ता उसी अस्पताल को जाता है' (सबरंग : १९९५), 'सत्ता संवाद' (सबरंग : १९९६), 'अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी' (वागर्थ : अगस्त १९९६), 'आधी आबादी', 'वर्चस्व', 'ताराबाई चाल : कमरा नं १३५', 'यथास्थिति' (सभी हंस में : १९९६-९७) और बहुत-सी अधूरी कहानियों के नोट्स जो डायरी के पन्नों में दर्ज हैं. ये कहानियां मेरे भीतर उसके ज़िंदा रहने का प्रमाण हैं.

इसमें संदेह नहीं कि अगर 'हेल्प' की दुनिया से मेरा परिचय न हुआ होता और मैंने दुबारा लिखना न शुरू किया होता तो मैं आम घरेलू गृहिणी की तरह शादी की सालगिरह भूल जाने वाले एक सफल अफ़सर पति के घर की चाहरदीवारी में कैद बेहद कुंठित, एक्सेंट्रिक, बाहर की दुनिया से मुंह छुपाने वाली एक सीज़ोफ्रेनिक पत्नी होती जो अपने पति के सरनेम से जानी जाती. मेरे लेखन की दूसरी पारी में 'हेल्प' का बहुत सकारात्मक योगदान है.

❐

इसी के साथ शुरू हुआ बंबई के दैनिक 'जनसत्ता' का साप्ताहिक कॉलम 'वामा' जो हर बुधवार को सुबह के अख़बार में छपता था और अख़बार के दफ़्तर से फोन नं. लेकर आते अनजान महिलाओं के फोन कि मैंने उनकी बात कह दी है. यह साप्ताहिक कॉलम एक साल तक चला, शायद और भी आगे चलता कि पुरुष संपादकों-उपसंपादकों की मिली-भगत ने डॉ. धर्मवीर भारती पर लिखी मेरी श्रद्धांजलि वाले आलेख को पचास प्रतिशत काटकर, शीर्षक बदलकर, अंतिम पंक्तियां काटकर इस तरह छापा कि उस पर अच्छा-ख़ासा विवाद खड़ा हो गया, जिसने एक बार फिर पुरुष वर्चस्ववादी समाज और पीत पत्रकारिता पर अपनी मोहर लगा दी. पर जैसा कि हर हादसे के बाद होता है कि वह एक सबक तो छोड़ जाता है, परेशानी के वक़्त अपने दोस्तों-दुश्मनों के चेहरे ज़रूर बेनकाब कर देता है और इसके साथ ही आपकी सच बोलने की ताकत को कुछ और बढ़ा देता है. इस विवाद ने भी कुछेक दोस्त दिखने वालों के चेहरों का मुलम्मा उतार दिया, जो शायद सामान्य स्थितियों में कभी न हो पाता और कुछ दोस्तों को अपने करीब खड़ा पाया, जिसमें कमलेश बख्शी, कुमकुम गुप्ता, अरुणा बुर्ते और हंसाबेन थीं, - हर आड़े समय में अपना हाथ आगे बढ़ाती हुई.

मेरे शुभचिंतक मित्र अक्सर कहते हैं कि मुझे सेकेंड थॉट देकर बोलना चाहिए, कि ख़ालिस पंजाबी न होते हुए भी मुझमें पंजाबी अक्खड़पन है जो किसी को भी नाराज़ कर सकता है, कि मुझे कड़वा सच बोलने की पुरानी आदत से थोड़ा परहेज़ करना चाहिए.

इस 'आमने-सामने' में मैंने कड़वा सच बोलने से भरसक परहेज़ किया है. इसके बावजूद अगर यह कहीं आपको अख़रता है तो इसकी जिम्मेदार मैं नहीं हूं, इसकी जिम्मेदार मेरी वह गुमशुदा दोस्त है जो डेढ़ बरस गुम होने के बाद मुझे फिर से मिल गयी है और अब मेरे साथ है और उसे बोलने की छूट मैंने दी है ... और अब मैं किसी भी कीमत पर इसे खोना नहीं चाहती क्योंकि इसे खोकर ख़ासा ख़ामियाज़ा मैं भुगत चुकी हूं. उस समय आपमें से कोई मेरे साथ नहीं होता इसलिए आप भी मेरे लिए दुआ करें कि वह, मेरी दोस्त, हमेशा मेरे साथ रहे जिसे आज भी यह लगता है कि इतने सालों में उसने कुछ भी तो नहीं लिखा, कि वास्तव में लिखना तो उसे अब शुरू करना है. उसकी इस शुरुआत का मुझे भी बेसब्री से इंतज़ार है. आमीन !

१७०२, सॉलिटेयर, हीरानंदानी गार्डेन्स,
पवई, मुंबई ४०० ०७६

सागर / सीपी

'पहला गिरमिटिया' लिखकर कर्ज उतारा है !

- गिरिराज किशोर

('कथाबिंब' के लिए डॉ. गिरिराज किशोर से श्री बलराम की भेंटवार्ता)

उत्तर प्रदेश के मुज़फ़्फ़र नगर जनपद के एक जमींदार परिवार में ८ जुलाई, १९३७ को पैदा हुए गिरिराज किशोर को कला एक तरह से विरासत में मिली. पर्दा जैसी रूढ़ियों के बावजूद संगीत और गायन में इनकी मां की खासी रुचि थी. न जाने क्यों गिरिराज किशोर ने अंग्रेजी या फ़ारसी की बजाय पहले दर्जे से ही हिंदी को चुना, जबकि घरवालों की इच्छा थी कि अंग्रेजी या फ़ारसी लें. 'जुगलबंदी', 'परिशिष्ट', 'यथा प्रस्तावित', 'तीसरी सत्ता' तथा 'ढाई घर' जैसे उपन्यास लिखनेवाले गिरिराज किशोर उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, मध्य प्रदेश साहित्य परिषद समेत साहित्य अकादमी से पुरस्कृत-सम्मानित हैं. गांधी के दक्षिण अफ्रीकी प्रवास पर लिखा इनका उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' अख़बारों और पत्र-पत्रिकाओं की सुर्खियों में रहा, जिसे पिछले दिनों व्यास सम्मान प्रदान किया गया.

● अपने लेखन की शुरुआत को याद करेंगे ?

मां के आंचल की छाया न होने की वज़ह से एक तरह का बेगानापन शुरू से ही मेरी ज़िंदगी में आ गया था और सातवीं-आठवीं क्लास से ही मैं उपन्यास पढ़ने लगा था, जिसका घरवालों ने विरोध किया, पर मैं छिप-छिपकर पढ़ता रहा. यही वज़ह रही कि दर्जे में मैं कभी अच्छा विद्यार्थी नहीं रहा. प्रेमचंद और शरत के प्रभाव में शुरू से ही कहानियां लिखने लगा था. मेरी पहली कहानी १९५९ में आगरा के साप्ताहिक अख़बार 'सैनिक' में छपी थी. 'हिंदुस्तान' दैनिक के साप्ताहिक परिशिष्ट तथा 'मध्यप्रदेश संदेश' के बाद जब रचनाएं 'कादंबिनी' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में छपीं तो मेरी विधिवत साहित्य-यात्रा शुरू हो गयी.

● सुना है कि नौकरियों में आपने काफ़ी पापड़ बेले हैं ?

पापड़ तो क्या बेले, पर परेशानियां खूब आयीं. सोशल वर्क में एम. ए. कर एक फैक्ट्री में लेबर ऑफीसर हो गया. वह छूटी तो डेढ़ वर्ष तक इलाहाबाद में इंप्लायमेंट ऑफीसर रहा और प्रतिकूल स्थितियों में वहां से इस्तीफ़ा दे दिया तो ढाई वर्ष तक फ्रीलांसिंग करनी पड़ी. बाद में इलाहाबाद में प्रोबेशन अफ़सर हो गया. वह नौकरी भी छूट गयी तो कानपुर विश्वविद्यालय में असिस्टेंट रजिस्ट्रार हो गया और फिर डिप्टी रजिस्ट्रार. वहां से रजिस्ट्रार के पद पर आई. आई. टी. आ गया. यहां के तानाशाह निदेशक ने निलंबित कर दिया, पर मैं मानता रहा कि सच्चाई मेरे साथ है. सच्चाई में ठोकरें भी खानी पड़ती हैं और आदमी गिर-गिरकर उठने के अवसरों का धनी होता है. वही हुआ और अंततः मेरी जीत हुई.

● रचनाओं में व्यवस्था का विरोध होने के कारण कभी आपको प्रताड़ित भी किया गया ?

हां, 'चिड़ियाघर', 'रिश्ता' और 'मवेशी' को लेकर चिल्लपों मची, तब मैं कानपुर विश्वविद्यालय में था. भक्तदर्शन कुलपति थे. मित्रों ने शिकायतें कीं तो उन्होंने बुलाकर पूछा. मैंने जब कहा कि आप लिखकर पूछ लें तो अच्छा हो. भक्तदर्शन साहित्यिक व्यक्ति थे, चुप लगा गये. यह उनका बड़प्पन ही था कि साहित्यकार का मान भी रख लिया और प्रशासनिक दायित्व भी निभा दिया.

● विचारधारा और कलात्मकता में से आप किसे ज्यादा महत्वपूर्ण समझते हैं ? रचना में समकालीन सवाल उठाये जाने चाहिए या नहीं ?

सामाजिक विसंगतियों का पर्दाफ़ाश करते हुए और कमज़ोर पक्ष का साथ देते हुए मैं रचना के कला पक्ष पर ज़्यादा ध्यान देता हूं. लेखक अगर समकालीन सवालों को मानवीय संवेदना के स्तर तक पहुंचा सके तो अवश्य उठाये.

● अपने उपन्यास 'दो' में आपने नारी जीवन के जिस पक्ष को उजागर किया है, यह क्या भारतीय जीवन का आम दृश्य है ?

हां, भारतीय समाज के निम्न वर्ग में यह बात आम है, पर उच्च वर्ग में ऐसा कम होता है. मेरे यहां की कई औरतों ने ऐसा किया है, निम्न जातियों में इसे उस तरह नहीं लिया जाता, जिस तरह हम लोग लेते हैं. इंसान की ज़रूरत का वे हमसे ज्यादा सम्मान करते हैं.

● अपने वृहद् उपन्यास 'जुगलबंदी' में आपने जिस तरह के अश्लील शब्दों का प्रयोग किया है, क्या उनसे बचा नहीं जा सकता था ?

रचना एक बच्चे के समान होती है. उसके हाथ, पैर, आंख, कान और नाक बनाने के बाद, जिसे आप अश्लील अंग मानते हैं, उसे छोड़ दिया जाये तो क्या बच्चे को पूर्ण मान सकेंगे ? इसी तरह किसी कृति में जो चीज़ ज़रूरी है, उससे बचने का मतलब है पलायन और 'जुगलबंदी' में मैंने पलायन नहीं किया. बच्चे की तरह उसे प्राकृतिक और संपूर्ण रूप दिया है. ऐसी रचना का विकास आर्गेनिज्म की तरह होता है और होना भी चाहिए.

● इतने जिम्मेदारीपूर्ण पदों पर रहते हुए साहित्य रचना में व्यवधान महसूस नहीं करते रहे ?

नौकरी को नौकरी की तरह धर्म समझकर निभाया और अपने बाकी समय में साहित्य-सृजन को अपना धर्म मानकर ईमानदारी से निभाता रहा. मुझे कोई ख़ास व्यवधान नज़र नहीं आया.

● अपने उपन्यास 'परिशिष्ट' के बारे में कुछ बतायेंगे ?

'परिशिष्ट' में समाज के अनुसूचित वर्ग के लोगों का संघर्ष चित्रित किया है. अनुसूचित कोई जाति नहीं होती, एक मानसिकता होती है. जिसे अभिजात वर्ग ने अलग कर दिया, वही अनुसूचित हो गया. ऐसे लोग क्रमशः पिछड़ते चले जाते हैं और सरकार कहती है कि अभिजात वर्ग से कंपटीशन करें. कैसे कर पायेंगे ऐसे लोग किसी भी तरह का कंपटीशन, लेकिन व्यवस्था ऐसी है कि कंपटीशन तो करना ही पड़ेगा. आई. आई. टी. या जे. एन. यू. जैसे संस्थानों में पढ़नेवाले अनुसूचित जाति के छात्रों के संघर्ष को मैंने 'परिशिष्ट' का विषय बनाया है.

● देश का बड़े से बड़ा नेता कहता है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विदेशी भाषा का प्रयोग करके कोई भी राष्ट्र सही ढंग से विकास नहीं कर सकता. फिर भी, इन क्षेत्रों में अंग्रेजी ही क्यों छायी हुई है ?

इस संदर्भ में मैं दो बातों का जिक्र करना चाहूंगा, जिससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में ही नहीं, हर महत्वपूर्ण क्षेत्र में अंग्रेजी का बोलबाला क्यों है ? पहली बात तो यह है कि जिनके पास विज्ञान और प्रौद्योगिकी है, वे इसे अपने और अपने वर्ग तक सीमित रखना चाहते हैं. दूसरी बात यह कि नौकरशाही की तरह विज्ञान और प्रौद्योगिकी भी अभिजात वर्ग के शिकंजे में कसती चली जा रही है. जैसे कि देश की नौकरशाही चाहती है कि अंग्रेजी बनी रहे, वैसे ही विज्ञानशाही भी चाहती है कि अंग्रेजी बनी रहे. इससे इन लोगों को विदेश से विज्ञान और प्रौद्योगिकी आयात करने के अवसर और सुविधाएं मिल जाती हैं. इन्हें डर है कि विज्ञान यदि भारतीय भाषाओं के माध्यम से विकसित होना शुरू हो गया तो उसमें रचनात्मकता और मौलिक अण्वेषण की संभावना बढ़ जायेगी. इससे विज्ञान-प्रबंधकों को नुकसान होगा. सामान्य जन और राजनीतिज्ञों को उनकी भाषा में विज्ञान का महत्व मालूम हो जाने पर विज्ञानशाही उन्हें मूर्ख नहीं बना पायेगी. अंग्रेजी का प्रयोग कर विज्ञान को सामान्य जन से अलग तो रखा ही जा रहा है, खुद को बुद्धिजीवी और आधुनिक कहलाये जाने का अवसर भी मिलता है.

● अंग्रेजी को हटाकर विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हिंदी और भारतीय भाषाओं को स्थापित करने का रास्ता क्या हो सकता है ?

सबसे पहली बात तो यह हो कि हाई स्कूल तक मातृभाषा में ही विज्ञान पढ़ाया जाना चाहिए. इससे छात्रों में मौलिक चिंतन और रचनात्मकता का मज़बूत आधार बनेगा. इसके बाद विज्ञान की पढ़ाई का माध्यम राष्ट्रभाषा को रखा जाये, और यदि संभव हो तो त्रिभाषा सूत्र को लागू करते हुए कुछ समय तक हिंदी और अंग्रेजी मिश्रित रूप से विज्ञान की भाषा बनायी जाये. शब्दावली कुछ समय तक अंग्रेजी चल सकती है, जब तक कि हिंदी की प्रामाणिक शब्दावली न बन जाये, लेकिन अभिव्यक्ति का माध्यम या तो हिंदी हो या मातृभाषा. अंग्रेजी का प्रयोग ठीक उसी प्रकार किया जाना चाहिए, जैसे जर्मन, रशियन तथा फ्रेंच का प्रयोग शोध के लिए होता है. अंग्रेजी को विज्ञान की भाषा बनाये रखने से देश को बड़ी हानि हुई है. यहां के मेधावी छात्र विदेश चले जाते हैं, जिससे उनका देश के विज्ञान और प्रौद्योगिकी से कभी साक्षात्कार ही नहीं हो पाता.

● विज्ञान और प्रौद्योगिकी को ध्यान में रखकर सरकार द्वारा निर्मित शब्दकोशों को आप कितना उपयोगी और व्यावहारिक मानते हैं. प्रचलित भारतीय शब्दों को कितना उचित समझते हैं ?

कोशों के लिए जो शब्द बनाये गये हैं, उनका उपयोग तो हो नहीं रहा है, इसलिए उन शब्दों की घिसाई भी नहीं हुई है. इसी से उनकी मानकता संदिग्ध है. शब्दावली तभी प्रामाणिक बनती है, जब प्रयोग में आये और प्रयोग में तब आती है, जब संबंधित भाषा व्यवहृत हो. इसलिए मैं शब्दावली को दोष नहीं देता. जब तक प्रयोग में नहीं आयेगी, वह कृत्रिम शब्दावली बनी रहेगी. जहां तक समाज में प्रचलित शब्दों के प्रयोग का प्रश्न है, उसमें किसी विवाद की गुंजाइश नहीं. जितने मिस्त्री और कारीगर हैं, अपना काम देसी भाषा की अपनी शब्दावली में चलाते हैं. ऐसे शब्दों का प्रयोग होना ही चाहिए, उन्हें शब्दावलियों में भी स्थान मिलना चाहिए.

● टी. वी. जैसे संचार माध्यमों के जरिये प्रौद्योगिकी के भाषा और साहित्य पर पड़े प्रभाव को आप किस रूप में लेते हैं ?

जहां तक दूरदर्शन का प्रश्न है, उसका उद्देश्य किसी भी वैचारिक सभ्यता का विकास करना नहीं, उसका उद्देश्य तो उपभोक्ता संस्कृति को जुबान देना है. इसीलिए दूरदर्शन भाषा या साहित्य की समस्या पर विचार नहीं करता. उससे हम अगर किन्हीं वैचारिक या साहित्यिक मूल्यों की आशा या अपेक्षा करते हैं तो वह हमारी मूर्खता है. सरकार भी उसका उपयोग मात्र अपने प्रचार के लिए करती है.

● प्राचीन भारत में विज्ञान के अत्यंत उन्नत होने के मिथ को आप किस रूप में देखते हैं ? यदि वह इतना ही उन्नत था तो फिर विलुप्त कैसे हो गया ?

सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व के एशिया में, जिसमें भारत, चीन तथा अरब आदि देश आते हैं, विज्ञान की स्थिति योरोपीय देशों

से कहीं ज्यादा अच्छी थी. औद्योगिक क्रांति के बाद एशिया में विज्ञान की स्थिति डावांडोल होती चली गयी और वह योरोप में मजबूत होती गयी. इसके कई कारण हैं. पहला कारण तो यह है कि भारत का जितना भी विज्ञान था, वह या तो पांडुलिपियों में था या फिर कंठ में ! जो कंठ में था, वह उन्हीं के साथ चला गया, जिनके पास था. पांडुलिपियां इधर-उधर बिखर गयीं. भारतीयों में अपनी संस्कृति के प्रति अरुचि इसलिए उपजी, क्योंकि गत सात सौ वर्षों में जो भी राजा आया, उसने अपनी संस्कृति और भाषा का सिक्का चलाया और उसे रोजी-रोटी से जोड़ दिया. इसलिए अपने देसी ज्ञानी-विज्ञानी उपेक्षित होते चले गये. हमारा पूरा विज्ञान पुराण कथाओं के रूप में सामने आया, जो कालांतर में गल्प मात्र मान लिया गया, जबकि विंध्याचल पर्वत को अगस्त्य मुनि द्वारा बढ़ने से रोकना एक वैज्ञानिक प्रक्रिया थी. इसी प्रकार संपाती का सूर्य की ऊर्जा का आकलन करने के लिए उड़ना एक वैज्ञानिक उत्कंठा थी. इससे अधिक एक वैज्ञानिक का समर्पण क्या हो सकता है कि यह जानते हुए भी कि 'जल जायेगा' वह उड़ता है. हम संपाती को भूल जाते हैं, जब हम उन वैज्ञानिकों की प्रशंसा करते हैं, जिन्होंने पोटेशियम साइनाइड चखने में अपने प्राण गवां दिये. कुछ दिन पहले एक समाचारपत्र में मैंने पढ़ा कि तिरूमति में 'बराहमिहिर' की बृहत्संहिता के आधार पर जामनगर (गुजरात) जैसे सूखे स्थान पर ५१ ज़गह पानी के स्रोतों का पता लगाया गया और उनसे पानी निकला भी. इसी प्रकार सिविल इंजीनियरिंग में आज भी अनेक भारतीय ग्रंथ उपलब्ध हैं. प्रासाद मंडन, रूपमंडन, समरांगण, सूत्रधार, वास्तु रत्नावली, मयमत आदि, लेकिन इन पर आज तक शोधकार्य नहीं हुआ. हां, गणित के क्षेत्र में वैदिक गणित का प्रसार हो रहा है और उसमें दिये गये सूत्रों के माध्यम से गणित संबंधी कठिन से कठिन समस्याएं चुटकी बजाते सुलझ जाती हैं.

● साहित्य के स्तर पर हिंदी में विज्ञान कथा का क्षेत्र खाली पड़ा है. इसके पीछे आप क्या कारण देखते हैं ?

भाषा का प्रश्न यहां भी बड़ा महत्वपूर्ण है. जो बड़ी भाषाएं होती हैं, उनका फैलाव हर क्षेत्र में होता है, लेकिन अपने यहां बांग्ला और किसी हद तक तमिल को छोड़कर सभी भाषाओं के साथ यह दुर्भाग्य रहा है कि उनको मात्र बोलचाल या साहित्य की भाषा तक सीमित कर दिया गया. आपको यह जानकर ताज्जुब हो सकता है कि संस्कृत की समकालीन या आगे-पीछे की भाषाएं जैसे अरबी, फ़ारसी या यूनानी आज तक प्रासंगिक बनी हुई हैं, लेकिन यह हमारे देश में ही संभव है कि संस्कृत जैसी बड़ी भाषा को मृत भाषा घोषित कर दिया गया है. जगदीश चंद्र बसु ने अपना सारा विज्ञान लेखन बांग्ला में किया. मेघनाद साहा अपनी भाषा में धाराप्रवाह बोल सकते थे, लेकिन हिंदी के साथ एक दुर्भाग्य है कि उसे घसखुदों और खोमचेवालों की भाषा कहा जाता है. उसे विज्ञान की भाषा नहीं माना जाता, जबकि संस्कृत के बाद सबसे वैज्ञानिक भाषा हमारी हिंदी ही है. भारत की इस भाषा, राष्ट्रभाषा हिंदी से लचीली भाषा और कौन हो सकती है, जिसमें संसार की न जाने कितनी भाषाओं और बोलियों का मिश्रण है. मैं तो दावे के साथ कहता हूं कि भाषा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लिए हमारी हिंदी सर्वथा उपयुक्त भाषा है.

● विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हिंदी की मौलिक किताबें नहीं हैं. जो हैं, वे भी बड़े-बड़े शिक्षा संस्थानों से बहिष्कृत क्यों हैं ?

इसका कारण यह है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारतीय भाषाओं में किसी भी स्तर पर चिंतन आरंभ नहीं हुआ है. भारत के जनमानस को यही समझाया गया कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अगर उन्नति करनी है तो अंग्रेजी की पुस्तकें ही सहायक हो सकती हैं. पूर्व राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने एक बार बताया था कि आज़ादी के बाद लखनऊ विश्वविद्यालय के सभी डीन्स और प्रोफेसर इस बात का विरोध कर रहे थे कि हिंदी को भी विज्ञान की भाषा बनाया जाये, लेकिन प्रसिद्ध जीव विज्ञानी बीरबल साहनी ने सबसे पहले हिंदी में विज्ञान पढ़ाना शुरू किया. इसी प्रकार इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर सत्य प्रकाश, डॉ. गोरखप्रसाद तथा कई बंगाली प्रोफेसरों ने विज्ञान हिंदी में पढ़ाना शुरू किया, लेकिन बाद में सरकार का निर्देश आया कि 'ग्लो स्लो' और तब से हिंदी की प्रगति 'स्लो से स्लो' है. पुस्तकें तो हिंदी में हैं, लेकिन उनका कोई महत्व नहीं, क्योंकि उन्हें पढ़नेवाले नहीं हैं, लिखने या पढ़ानेवाले अध्यापक को क्रेडिट नहीं मिलता. ऐसी हालत में किताबें बहिष्कृत ही होंगी पुस्तकालयों से और नयी किताबें लिखने का कोई व्यक्ति इरादा ही क्यों करेगा भला ?

● लेखन में आप विचारधारा को महत्व देते हैं या नहीं. अगर देते हैं तो कितना और नहीं देते हैं तो क्यों ?

दो प्रकार की विचारधाराएं हैं : एक - दक्षिणपंथी, दूसरी - वामपंथी. वामपंथी विचारधारा जन साधारण और सामान्यजन की सोच के साथ जुड़ी विचारधारा है, दक्षिणपंथी विचारधारा धन को सीधे जनसाधारण तक न आने देने और हरेक के समान होने के रास्ते में बाधक इस दृष्टिकोण से है कि वह सोचती है कि व्यक्तियों और इकाइयों को समृद्ध करके सामान्य व्यक्ति को समृद्ध किया जा सकता है. इसलिए वे समान होने की मानसिकता के पक्ष में नहीं हैं. रचनाकार राजाओं और महाराजाओं की बात नहीं करता, बल्कि सामाजिक यथार्थ की बात करता है. उसके पात्र भी सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया से ही उपजे हुए होते हैं. न उन्हें कोई दैवी शक्ति बनाती है, न ही वे किसी आनुवंशिक प्रक्रिया की देन हैं. जब रचनाकार इसके विरोध में लिखता है, वह चाहे नाटक हो, कहानी हो या कविता, तो वह निश्चित रूप से सामान्य आदमी की चिंता और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया पर ज़ोर डालता है, लेकिन मैं उस तरह से विचारधारा की परंपरा का पक्षधर नहीं हूं, जहां उन लेखकों और रचनाकारों की रचनाओं का अनादर होता है, जो संघर्ष की प्रक्रिया की देन होते हैं. अपनी श्रेष्ठता,

अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता को किसी दल विशेष से जोड़ देनेवाले कुछ लेखक-आलोचक अपने व्यवहार और जीवनचर्या में पूर्णतः बुर्जुआ हो जाते हैं, लेकिन कहने के लिए वामपंथी बने रहते हैं.

● आप किस विचारधारा को ठीक मानते हैं ?

मैं लेखन के स्तर पर समाज के संघर्ष को उजागर करके इतिहास की पहचान करानेवाली विचारधारा को ही सर्वोपरि मानता हूं, क्योंकि अंततः इतिहास की प्रक्रिया ही लेखक-पाठक को समझने-समझाने में काम आती है.

● लेखक को किसी राजनीतिक पार्टी से जुड़ना चाहिए या नहीं ? यदि जुड़ना चाहिए तो किस सीमा तक ?

लेखक के लिए पहली आवश्यकता इस बात की होती है कि सबसे पहले वह अपने समाज के परिवर्तन की ऐतिहासिक-प्रक्रिया, उसके विरोधाभास और यथार्थ को समझे. इसको समझने के लिए यदि किसी लेखक को यह ज़रूरी लगता हो कि वह किसी पार्टी का सदस्य हो जाये तो इसमें किसी को एतराज़ नहीं होना चाहिए. मेरे बारे में वामपंथी आलोचक और मेरे समकालीन लेखक मित्र कई बार यह कहते हैं कि मैं लिखने के स्तर पर भले ही प्रगतिशील मुद्दे उठता हूं, किंतु मेरी समझ उन्हें साम्यवादी नहीं लगती. यह बात सही भी हो सकती है, लेकिन मैं जानता हूं कि पार्टी या मंच का सदस्य होते ही यह आरोप बहुत हद तक कम हो जायेगा और मुझे एक ख़ास तरह के अनुशासन के फ्रेमवर्क में आना पड़ेगा. मैं लेखक के लिए इस तरह की अनिवार्यता नहीं समझता. यदि कोई लेखक पार्टी में रहते हुए लेखन को महत्व दे सकता है और यशपाल की तरह से मुक्त होकर लिखता रह सकता है तो शायद पार्टी का सदस्य होना सार्थक हो सकता है. यदि उसका लेखन दूसरे या तीसरे नंबर पर आ जाता है तो उसे स्वभावतः लेखक की बजाय राजनीतिज्ञ कहा जाना चाहिए. कई बार यह देखने में आया है कि बहुत से सक्षम लेखकों के लिए लेखन की दृष्टि से पार्टी रेगिस्तान साबित हुई.

● विचारधारा के आधार पर कई लेखक संगठन बने हुए हैं. उनकी उपयोगिता पर आपकी राय क्या है ?

किसी भी मंच या संगठन का उद्देश्य तभी सार्थक होता है, जब वह एक से बढ़कर एक अच्छे लेखक दे, जैसा कि किसी जमाने में प्रगतिशील लेखक संघ ने किया, लेकिन यदि कुछ लेखकों को सदस्य बनाकर और अधिकांशतः पूर्व लेखकों का ढिंढोरा पीटकर कोई संगठन अपने आपको महत्वपूर्ण घोषित करना चाहता है तो शायद मंच की सार्थकता समाप्त हो जाती है. वर्तमान समय में जो मंच हैं, वह चाहे प्रगतिशील लेखक संघ हो, जनवादी लेखक संघ हो, उनकी साख इसी बात पर निर्भर करती है कि वे कितने नये लेखकों को सामने लाते हैं. एक जमाने में प्रगतिशील लेखक संघ ने यह काम बहुत अच्छे ढंग से किया था.

● एक समय कानपुर का प्रगतिशील लेखक संघ दो हिस्सों में बंट गया था. तब आप एक हिस्से से जुड़ गये थे. क्या आप आज भी प्रगतिशील लेखक संघ में हैं ?

कानपुर में प्रगतिशील लेखक संघ एक जमाने में स्वर्गीय ललित मोहन अवस्थी के इर्द-गिर्द घूमा करता था, लेकिन उनकी क्रियाशीलता और विविधता समाप्तप्राय थी. उस समय सर्वश्री हृषीकेश, सिंदूर, नरेशचंद्र चतुर्वेदी तथा कई अन्य स्थानीय लेखकों ने तय किया कि प्रगतिशील लेखक संघ को सक्रिय किया जाये. चूंकि मैं लखनऊ से संबद्ध रहने के कारण यशपाल से जुड़ा रहा था और कहीं दूर तक उनसे प्रभावित भी था. मुज़फ़्फ़र नगर में था, तब भी प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ा हुआ था. अतः साथी लेखकों का प्रस्ताव मुझे भी पसंद आया और उन्होंने मुझे कानपुर प्रगतिशील लेखक संघ का अध्यक्ष बना दिया. चूंकि पूर्व प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष ललितमोहन अवस्थी और महासचिव कामतानाथ पार्टी के सदस्य थे और प्रगतिशील लेखक संघ ललित मोहन अवस्थी ही चला रहे थे, इसलिए केंद्रीय प्रगतिशील लेखक संघ ने हमारे प्रगतिशील लेखक संघ को मान्यता नहीं दी. तत्कालीन महासचिव भीष्म साहनी ने हमें सलाह दी कि उसी प्रगतिशील लेखक संघ से मिलकर काम चलायें. हालांकि राजीव सक्सेना चाहते थे कि इस लेखक संघ को भी चलने दिया जाये, क्योंकि इसमें अच्छे लेखक ज्यादा हैं, कई वर्ष तक हमने इसे चलाया भी. हमारे प्रगतिशील लेखक संघ की तब नियमित गोष्ठियां हुआ करती थीं. कहानियां और लेख पढ़े जाते थे, उनकी रिपोर्टें भी छपती थीं. बाद में लगने लगा कि ये गोष्ठियां हम प्रगतिशील लेखक संघ के नाम से चलाते भले ही हों, लेकिन केंद्रीय संगठन इसे इस आधार पर स्वीकार नहीं कर रहा है, क्योंकि पार्टी के दो सदस्य इससे अलग हैं. इस प्रकार के मंच तभी सफल होते हैं, जब लेखकों को उनके अपने लेखकीय व्यक्तित्व को बनाने में सहयोग मिले, केवल राजनीतिक कारणों से उनकी स्वीकृति न हो. इसीलिए बाद में सब लोग धीरे-धीरे उदासीन होते चले गये और अंततः बैठकों का सिलसिला खत्म हो गया.

● प्रगतिशील लेखक संघ की ५०वीं वर्षगांठ पर प्रकाशित कहानी संकलन 'प्रगतिशील कहानियां' में आपकी भी कहानी संकलित है ? इसका कारण आपकी प्रगतिशीलता बनी या प्रगतिशील लेखक संघ से प्रत्यक्ष-परोक्ष आपका जुड़ाव ?

प्रारंभिक वर्षों में जब मैं प्रगतिशील लेखक संघ में था और जब कानपुर में प्रगतिशील लेखक संघ का अध्यक्ष बनाया गया, तब भी केंद्रीय प्रगतिशील लेखक संघ के दफ़्तर में प्रगतिशील लेखक के रूप में मेरी मान्यता न थी, न आज है. मेरे उपन्यास 'परिशिष्ट' की समीक्षा करते हुए प्रगतिशील आलोचक कमलाप्रसाद पांडेय ने लिखा था कि इस उपन्यास में लेखक सामूहिक एफर्ट पर विश्वास नहीं करता, इसके नायक को ही सामने लाता है. अब इन्हें कौन समझाये कि संपूर्ण साम्यवादी आंदोलन लेनिन के माध्यम से आरंभ हुआ और लेनिन ही सामने आये. परिवर्तन की प्रक्रिया को एक-दो लोग ही शुरू करते हैं. इस प्रक्रिया को नज़रंदाज़

नहीं किया जा सकता. इस विरोध भाव के बावजूद मेरी कहानी संकलन में क्यों रखी गयी, यह तो संपादक ही बता सकते हैं.

● प्रेम की दो दृष्टियां हैं - वैयक्तिक निष्ठावाली दृष्टि, जिसका प्रतिनिधित्व जयशंकर प्रसाद करते हैं और दूसरी सामाजिक निष्ठावाली दृष्टि, जिसका प्रतिनिधित्व प्रेमचंद करते हैं. आप इन दोनों में से किसे उचित मानते हैं ?

जहां तक प्रेम का प्रश्न है, उसमें यदि यह किसी स्त्री और किसी पुरुष के बीच है, दोनों का भावनात्मक रूप से जुड़े होना या जुड़ना उसकी पहली शर्त है. इसके बाद प्रेम के अगले आयाम खुलते हैं. यदि वह प्रेम बिखर जाता है तो अगले आयामों की संभावना भी बिखर जाती है. वैसे भी प्रेम के लिए कोई आरोपित स्थितियां तैयार नहीं की जातीं. स्त्री और पुरुष के बीच वह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है. अगर होता है तो उसका पहला उद्देश्य या अर्थ दोनों में भावनात्मक तादात्म्य के होने में निहित है. प्रेमचंद के साहित्य में यदि प्रेम की स्थितियां उत्पन्न हुई हैं तो उसकी दो ही स्थितियां हैं - या तो लेखक ने उनके बीच अपने दृष्टिकोण को आरोपित किया है या फिर प्रेम हो जाने के बाद उसका उपयोग सामाजिक उद्देश्यों को विस्तार देने के लिए किया है. दूसरी स्थिति पहली स्थिति से बेहतर है. जहां तक जयशंकर प्रसाद के साहित्य का प्रश्न है, उसमें प्रेम स्त्री और पुरुष के बीच एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में आया है. उसके बीच लेखक कहीं अपने दृष्टिकोण को उपस्थित नहीं करता और उसका उपयोग भी वह किसी उद्देश्य के लिए नहीं करता. हां, एक उद्देश्य अवश्य ढूंढ़ा जा सकता है - राष्ट्रधर्मिता का प्रक्षेपण. शायद यह इसलिए है कि उस जमाने में आज़ादी की लड़ाई चल रही थी और प्रसाद उससे प्रभावित थे. चाहे उनके नाटक हों या कहानियां, नायिका उसी वीर पुरुष को प्रेम करती है, जो उसकी स्वतंत्रता की लड़ाई में भागीदार हो. उदात्त चरित्रों को प्रेम करने की यह परंपरा है तो पुरानी, परंतु उसका उपयोग प्रसाद ने आज़ादी के सामाजिक उद्देश्य को पुष्ट करने के लिए किया है. प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद के प्रेम की तुलना करें तो मुझे जयशंकर प्रसाद के साहित्य में वर्णित प्रेम अधिक स्वाभाविक और आत्मीय जान पड़ता है.

● विवाह के बाद भी क्या प्रेम जस का तस रह पाता है या फिर तब जैनेंद्र का 'प्रेयसी मन में, पत्नी घर में' वाला सिद्धांत लागू होता है ?

विवाह के बाद प्रेयसी के साथ रोमांस के स्तर वाला प्रेम तो नहीं ही रहता. प्रेम के साथ धीरे-धीरे उनके अनुभव, सकारात्मक और नकारात्मक स्थितियां, पारिवारिक संबंध, सामाजिक स्तर तथा अपेक्षाएं आदि जुड़ने लगती हैं. अतः प्रेम के रोमैंटिक स्वरूप में अंतर आना स्वाभाविक है, लेकिन वह समय की मांग और परीक्षणों से गुज़रकर स्थायित्व तक पहुंचता है तो उसका रूप अधिक सकारात्मक हो जाता है. रोमांस प्रेम की आरंभिक प्रवृत्ति या स्थिति हो सकती है, लेकिन वह प्रेम का अंतिम रूप नहीं होता. अंततः उसे हटना पड़ता है, क्योंकि वह शारीरिक और भौतिक प्रक्रिया अधिक है. जहां तक जैनेंद्र का प्रश्न है, उन्होंने यह बात अपने अनुभव से कही या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए, यह तो मैं नहीं कह सकता, लेकिन ऐसे लोग भी हैं, जो बाद में संपर्क में आने से प्रेम की नयी स्थितियां उत्पन्न करने के लिए बाध्य हो जाते हैं, लेकिन जैनेंद्र का यह वक्तव्य कोई नियम नहीं बनाया जा सकता.

● प्रेम में सेक्स की भूमिका को आप किस रूप में देखते हैं ?

आज का जमाना प्लैटोनिक लव का तो है नहीं. जिस वातावरण में हम रह रहे हैं, उसमें सेक्स की भूमिका महत्वपूर्ण है. सिनेमा, टी. वी., विज्ञापन, पोस्टर्स, पाठ्य सामग्री इन सबमें सेक्स की पूर्व निर्धारित योजनाएं प्रदर्शित होती हैं. परिवारों में भी बावजूद उन सब वर्जनाओं के माता-पिता तथा अन्य संबंधियों के परस्पर व्यवहारों में यौन संबंधों की निष्पत्ति होती है. ऐसी स्थिति में यदि यह कहा जाये कि प्रेम में सेक्स नहीं होना चाहिए तो यह बहुत व्यावहारिक नहीं होगा. वैसे भी प्रेम की जो पूर्व या आरंभिक स्थिति होती है, जिसे रोमांस कहा जाता है, के पीछे भी सेक्स का स्फुरण होता है. अतः सेक्स को काटकर प्रेम को देखना ग़लत होगा. ख़ासतौर से तब, जबकि आधुनिक संसार फ्रायड को अपना सेक्स-गुरू मान चुका है.

● विवाह के बाद दो में से कोई एक बेवफ़ा हो जाये तो उसका इलाज आपकी दृष्टि में क्या होना चाहिए : तलाक या कुछ और ?

जहां तक बेवफ़ाई का प्रश्न है, यह एकतरफ़ा कभी नहीं होती. इसके बहुत से सामाजिक, व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं, लेकिन स्थिति यदि यहां तक पहुंच जाये कि पति-पत्नी का साथ रहना असंभव हो जाये और दोनों के बीच मानसिक तनाव बढ़ने लगे तो पहले अलग रहकर यह देखना चाहिए कि क्या अभी भी कुछ ऐसे अंकुर बाकी हैं, जिनसे अच्छे संबंध पुनः विकसित हो सकते हैं. इस दृष्टि से मैं मुस्लिम पद्धति में 'तलाक' से पहले के समय को अलग-अलग बिताने की विधि को ज़्यादा वैज्ञानिक मानता हूं, जिससे दोनों पक्षों को अपना मूल्यांकन करने का अवसर मिल जाता है. फिर भी, यदि दोनों इससे सहमत हों कि साथ नहीं रहा जा सकता तो फिर तलाक ले लेना चाहिए, लेकिन यदि बच्चे हों तो स्थिति में प्राथमिकता बच्चों को देनी चाहिए.

● तलाक की वर्तमान कानूनी पेचीदगियों में दोनों पक्षों के सालोंसाल तक अटके रहने की स्थिति को लेकर आप क्या सोचते हैं ? क्या कनाडा जैसे पश्चिमी देशों की तरह 'कॉमन लॉ' जैसे सरल कानून को समर्थन देना पसंद करेंगे ?

कोर्ट-कचहरी में सालोंसाल तक अटके रहने की स्थिति वहीं आती है, जहां संबंध बहुत खराब हो जाते हैं और आर्थिक पहलू

लझ जाते हैं. दरअसल हमारा समाज अभी तलाक की मानसिकता पूरी तरह जुड़ा नहीं है, अन्यथा स्वस्थ परंपरा तो यह होनी हिए की अंतर्विरोध यदि इतने बढ़ गये हों कि साथ रह सकना संभव हो गया हो तो शत्रुओं की तरह अलग होने की बजाय त्रों की तरह अलग हो जायें, लेकिन हमारा समाज एक तो र्थिक दृष्टि से कमजोर है, दूसरे हमारी मानसिकता तलाक को भी समाधान के रूप में स्वीकार नहीं कर पाती. फिर बच्चे हमारे माज में एक महत्वपूर्ण भावनात्मक आधार होते हैं. उनके प्रति मारा दायित्व धर्म से जुड़ा हुआ है. इस पृष्ठभूमि में तलाक से ले का समय एक तरह की शत्रुता निर्मित करने की प्रक्रिया गुज़रता है. इसे सामान्य होने में अभी समय लगेगा. यह तभी गा, जब हम पाश्चात्य देशों की तरह इसके आदि हो जायें.

आपको नहीं लगता कि प्रेम में जो गहराई पहले की पीढ़ी में ती थी, अब अपेक्षाकृत कम दिखती है. इसका कारण आप श्चात्य संस्कृति के फैलाव में देखते हैं या कहीं और ?

प्रेम को लेकर मूल्य तो बदले ही हैं. ऐसा नहीं कि प्रेम पहले निराशा, गलतफ़हमियां या अलगाव आदि नहीं होते थे. हमारे आदर्श पुरुष हैं, उनके जीवन में भी इसके उदाहरण मिलते जहां प्रेम की स्थिति निरापद नहीं थी. दुष्यंत और शकुंतला उदाहरण भी इसी में आता है. राम और सीता प्रेम के बावजूद माजिक कारणों से अलग हुए. आज भी ऐसे बहुत से उदाहरण जिनमें स्थितियां महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं, लेकिन वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध आते-आते प्रेम व्यावहारिक होने लगा. की अपेक्षाएं भी पहले से ज्यादा हो गयीं. पुरानी बातों को एक यानूसी स्थिति माना जाने लगा. इसके बावजूद ऐसे भी उदाहरण जो प्रेम को जीवन में महत्व देते हैं, लेकिन कुल मिलाकर आज प्रेम उपभोक्ता संस्कृति से प्रभावित हुआ है. इसीलिए कई बार विवाहों में अपेक्षाकृत बिखराव जल्दी आता है.

आपकी पहली किताब कैसे छपी ? नये लेखकों को अपनी ाबें छपाने के लिए तब क्या दिक्कतें उठनी पड़ती थीं ?

नये लेखकों की किताबें छपने में तब इतनी दिक्कतें नहीं उन दिनों मैं इलाहाबाद में था. मेरी पहली दो किताबें लगभग साथ 'अर्पी. 'नीम के फूल' किताब महल ने छापी तो 'चार बेआब' भारती भंडार से छपी. तब प्रकाशक नये लेखकों ोत्साहन देते थे. उनकी छोटी-छोटी किताबें छाप देते थे. उन किताबों के मूल्य एक-दो से लेकर चार-पांच रुपये तक होते अब शायद लागत ज्यादा आती है. इसलिए नये लेखकों को ने का ज़ोखिम उठने को प्रकाशक आसानी से तैयार नहीं होते. मामले में शायद हर शहर का अपने किस्म का एक वातावरण है. इलाहाबाद में बड़े लेखक कह देते थे तो प्रकाशक नये क की किताब आसानी से छाप देते थे. छोटे शहरों के लेखकों हो सकता है तब भी परेशानी होती रही हो, पर मुझे नहीं

नये लेखकों को रॉयल्टी देने में प्रकाशक प्रायः आनाकानी करते हैं. आप अपने अनुभव के आधार पर इस संदर्भ में रोशनी डालेंगे ?

प्रकाशक उन दिनों ईमानदारी से १५ प्रतिशत रॉयल्टी लेखकों को देते थे. मुझे भी दी. इस मामले में मैं सौभाग्यशाली रहा कि किसी भी प्रकाशक ने कभी भी मेरी रॉयल्टी नहीं मारी. देर-सबेर भुगतान कर ही दिया.

किताबों के दूसरे-तीसरे संस्करण कम ही छप पाते हैं. आपकी किताबों के साथ भी ऐसा ही हुआ. इसका क्या कारण लगता है आपको ?

दोनों प्रारंभिक किताबों के संस्करण नहीं हुए. उन संग्रहों की कहानियां मेरी सारी कहानियों के संग्रह में अब फिर से छप रही हैं. कई उपन्यासों तक के संस्करण नहीं हुए. इसकी वज़ह मेरा कानपुर में रहना रहा या कि बार-बार प्रकाशकों से मेरा आग्रह न कर सकना, कुछ कह नहीं सकता. मेरे बहुचर्चित उपन्यास 'यथाप्रस्तावित' तक का रिप्रिंट नहीं हुआ. हां, 'जुगलबंदी' तथा 'लोग' के चार-चार संस्करण ज़रूर छपे. दो संस्करण 'दो' के हुए और दो ही संस्करण 'प्रजा ही रहने दो' के हुए. आत्माराम एंड संस ने दो खंडों में मेरे आठ उपन्यास छापकर किसी हद तक इस कमी को पूरा कर दिया है, लेकिन पता नहीं क्यों, प्रकाशक किताबों के रिप्रिंट करने से हिचकिचाते और कतराते हैं और किसी के पीछे पड़ना मेरी आदत नहीं है. बार-बार आग्रह करता तो संभव था कि प्रकाशक रिप्रिंट कर देते, पर मैं ऐसा नहीं कर सका.

आपको पहला पुरस्कार कब, कहां से और किस किताब पर मिला और राशि कितनी मिली थी ?

१९७८-७९ की बात है शायद. मेरे नाटक 'चेहरे-चेहरे किसके चेहरे' को उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का सात हजार रुपये का भारतेंदु पुरस्कार प्रदान किया गया था.

आपके उपन्यास 'जुगलबंदी' या 'परिशिष्ट' को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिलना चाहिए था, जबकि उससे कमजोर किताब 'ढाई घर' पर आपको वह दिया गया. इसका क्या कारण समझते हैं आप, उम्र या कोई और बात ?

उम्र की इसमें क्या बात है. 'जुगलबंदी' या 'परिशिष्ट' को लोगों ने उपयुक्त नहीं समझा होगा, इसलिए नहीं दिया. यशपाल, जैनेंद्र और अज्ञेय को बहुत बाद में पुरस्कार मिले और उनकी कमजोर किताबों पर मिले. मुझे तब न देकर बाद में क्यों दिया, क्या कह सकता हूं. पता चला था कि किसी को नहीं देना चाहते थे, इसलिए मुझे देकर बला टाल दी. इसी तरह जिस वर्ष विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास को अकादमी पुरस्कार मिला, उस वर्ष मंजूर एहतेशाम का उपन्यास 'दास्ताने-लापता' ज्यादा डिजर्विंग था. मंजूर एहतेशाम को इसलिए भी दिया जाना चाहिए था कि अभी तक किसी मुस्लिम हिंदी लेखक को अकादमी पुरस्कार नहीं मिला है. राही मासूम रजा का 'आधा गांव' और शानी का 'काला जल' अकादमी पुरस्कार के हक़दार थे, पर उन्हें नहीं मिला तो फिर नहीं ही मिला. अब यही मंजूर एहतेशाम के साथ हो रहा है. अब्दुल बिस्मिल्लाह की 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' को क्यों नहीं मिलना

चाहिए था अकादमी पुरस्कार ? किसी महिला लेखक को इस बार दे सकते थे. मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' प्रबल दावेदार था. उम्र को ध्यान में रखने पर किसी लेखक की श्रेष्ठ कृति पुरस्कृत होने से रह जाती है और बाद में उसकी कमजोर कृति पुरस्कृत हो जाती है और पुरस्कृत कृति का ही भारत तथा विश्व की और भाषाओं में अनुवाद होता है. ऐसा हिंदी की ही नहीं, सारी भारतीय भाषाओं की कृतियों के साथ होता है. इससे अततः साहित्य का नुकसान होता है. साहित्य अकादमी को अपनी इस रीति और नीति पर पुनर्विचार करना चाहिए और लेखक की मर्जी से उसकी श्रेष्ठतम कृति का ही अनुवाद करवाना चाहिए, यदि वह वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कृति की बजाय श्रेष्ठ लेखक की कृति को पुरस्कृत करने की अपनी परंपरा को बदल न पा रही हो तो... वैसे ऐसी परंपराओं को बदलने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए.

● आपकी मुख्य विधा उपन्यास लगती है, क्योंकि इतनी कहानियां लिखने के बावजूद चर्चा आपके उपन्यासों की ही हुई, कहानियों की नहीं. ऐसा क्यों हुआ, आपको क्या लगता है ?

ऐसा नहीं है कि उपन्यास मेरी मुख्य विधा है. नाटकों के अलावा मैंने अच्छी कहानियां भी काफी लिखी हैं और वे महत्वपूर्ण संचयनों में शामिल भी हुई हैं, लेकिन मेरे उपन्यासों की चर्चा अधिक होने का कारण शायद यह रहा कि बहुत से लोग मेरे साथ कहानियां लिख रहे थे, उपन्यास कम लोग लिख रहे हैं. विडंबना देखिए कि जो लोग बीसियों साल से कहानियां नहीं लिख रहे हैं, उनकी कहानियों की तो चर्चा होती रहती है, पर हमारी या लगातार लिख रहे लोगों की नहीं. हिंदी में दूसरों को चुनकर उनको हाइलाइट करना उचित नहीं. मूल्यांकन की यह पद्धति बाज़ारवाद की पद्धति है. एक को उठाया, निन्यानवे को फेंक दिया. मूल्यांकन सबका होना चाहिए.

● कुछ अंतरंग मित्र, जिनसे खुलकर बातें कर सकते हों, घर-बाहर सब ज़गह, सभी तरह की बातें... उनके नाम बतायेंगे ?

जिनसे भी मेरा परिचय है, सबसे दिल खोलकर बातें कर लेता हूं. यों राजेंद्र यादव उस तरह के बेहद करीबी मित्रों में से एक हैं. आप और संतोष तिवारी कानपुर में थे तो आप लोगों से भी हर तरह की बातें होती ही थीं. अब वहां प्रियंवद और दीप हैं. मेरे एक और अंतरंग मित्र थे, जेपी सविता, जिनसे संपर्क टूट गया. नरेशचंद चतुर्वेदी भी ऐसे ही मित्रों में थे, जो अब स्मृतिशेष भर हैं.

● पुरस्कारों का महत्व दिनोंदिन कम होता जा रहा है, उनकी साख घट रही है. इसका क्या कारण लगता है आपको ?

हिंदी में पुरस्कार पहले बहुत कम होते थे. मंगलाप्रसाद पारितोषिक हुआ करता था एक, वह भी बंद हो गया था, जो अब फिर शुरू हुआ है इधर और पंडित विद्यानिवास मिश्र को मिला है. फिर साहित्य अकादमी पुरस्कार शुरू हुआ. ज्ञानपीठ पुरस्कार और बाद में राज्य अकादमियों के पुरस्कार. उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, मध्य प्रदेश साहित्य परिषद, हिंदी अकादमी, दिल्ली तथा अन्य राज्यों के पुरस्कार. इधर बिड़ला, मोदी, केडिया और कलकत्ता की भारतीय भाषा परिषद के पुरस्कार शुरू हुए हैं, लेकिन पहले तो कुछ गिने-चुने पुरस्कार ही होते थे. हिंदी का क्षेत्र अत्यंत व्यापक होने से अनेक हक़दारों को साहित्य अकादमी पुरस्कार नहीं मिला, लेकिन जिन लोगों को मिला, वे पुरस्कार के लायक थे. इसलिए साहित्य अकादमी पुरस्कार की गरिमा प्रारंभ से लेकर अब तक बनी हुई है. इधर पुरस्कारों की संख्या बढ़ जाने से हम देख रहे हैं कि वे हर किसी को मिलते चले जा रहे हैं. पुरस्कारों की बहुतायत से उनका महत्व कम हुआ है और अनेक डिजर्विंग लेखकों के रहते छुटभइयों के पुरस्कृत होने से पुरस्कारों की साख कम होती लग रही है. निर्णायक भी अयोग्य लोग बन रहे हैं, जो पुरस्कारों के महत्व को घटा रहे हैं. और पुरस्कार बोरी भर नोटों के सिवा कुछ नहीं रहे जा रहे. इस पर विचार-पुनर्विचार करने का समय शायद आ गया है अब.

● आपके पुराने उपन्यासों की तुलना में 'पहला गिरमिटिया' एकदम अलग हटकर है. कैसे संभव किया आपने इसे ? इस पर तो बड़ी मेहनत करनी पड़ी होगी ?

निश्चित रूप से 'पहला गिरमिटिया' लिखने के लिए मुझे जितनी भागदौड़ करनी पड़ी, जितनी सहायक सामग्री जुटानी पड़ी, वह पिछली रचनाओं से एकदम अलग तरह का अनुभव रहा. मैंने विषय के अनुसार भाषा को सहज बनाकर पेश करने की कोशिश की. कहना चाहिए कि 'पहला गिरमिटिया' लिखने के लिए मैं गांधी के जीवन और साहित्य में पूरी तरह से डूब गया था. भारत, दक्षिण अफ्रीका और इंग्लैंड की उन ज़गहों की यात्रा भी की, जहां गांधीजी गये और रहे. सैकड़ों लोगों से बातचीत की और हजारों दस्तावेज़ पलटे और फिर कुछ नायाब मोती ढूंढ़ लाने की कोशिश की और जिस तरह से इस उपन्यास की चर्चा हो रही है, उससे लगता है कि मैं अपनी कोशिश में काफी हद तक सफल रहा हूं.

● सफल ही नहीं, पूर्णतः सफल समझिए खुद को. और मुझे उम्मीद है कि यह उपन्यास आपको भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार या व्यास सम्मान जैसे अलंकरणों से विभूषित ही नहीं करेगा, आपकी कीर्ति को विश्व के कोने-कोने तक ले जायेगा ?

नहीं, मैं इस तरह से नहीं सोचता. सोचना भी नहीं चाहिए, क्योंकि यह काम मैंने किसी सम्मान या कीर्ति के लिए नहीं किया. गांधीजी ने आज़ादी दिलवाकर हर भारतीय को अपना ऋणी बना दिया है. मैंने व्यक्तिगत रूप से उस ऋण को चुकाने की विनम्र कोशिश भर की है और कुछ नहीं.

(हमारे लिए अत्यंत खुशी की बात है कि गिरिराजजी को व्यास सम्मान प्रदान किया गया है पिछले दिनों हमारा अनुमान सही निकला और उम्मीद पूरी हुई. होनी ही चाहिए थी. गिरिराजजी डिजर्व करते हैं.)

डॉ. गिरिराज किशोर,
७९६ लखनपुर, अवधपुरी, कानपुर २०८ ०२४

बलराम,
५३ सी, ऊना एन्क्लेव, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-११००९१

पुस्तक समीक्षा

एक रोचक व प्रेरणादायक उपन्यास

✍ डॉ. सुदेश बहल

"एक संकल्प" (उपन्यास) : *मधुप शर्मा*
प्रकाशक - आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट,
दिल्ली ११० ००६ मूल्य : २०० रु.

'एक संकल्प' एक घटना प्रधान उपन्यास है. लेखक ने एक विशेष उद्देश्य को सामने रखकर वर्णनात्मक ढंग से जीवन की अनेक समस्याओं को उजागर किया है. उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र लक्ष्मी ने एक संकल्प लिया है वही उसके जीवन का ध्येय है. लक्ष्मी की लड़ाई पूरे नारी-वर्ग की लड़ाई है, जो समाज के ख़िलाफ है. यह कथा आज से पचास-साठ वर्ष पहले की है. उस समय एक नारी का सामाजिक मान्यताओं से जूझना सरल नहीं था. क्योंकि सतत हर लड़की को एक ही पाठ पढ़ाया जाता था- "बेटी तेरा असली घर ससुराल है. उस घर में तेरी डोली जा रही है, अब वहां से तेरी अर्थी ही निकले तथा पति जैसा भी हो - कोढ़ी, कामी पुरुष भी क्यों न हो, वह तेरे लिए परमेश्वर का रूप है." इन्हीं रूढ़ियों और घिसी-पिटी मान्यताओं के यज्ञ में कई नारियां आहुति बन चुकी हैं. लेखक ने उसी माहौल को लेकर एक ऐसी नारी का चित्रांकन किया है जो अपने चरित्र एवं व्यक्तित्व के बल पर उन रूढ़ियों से जूझती है. उसकी लड़ाई केवल समाज के साथ ही नहीं सरकार के साथ भी है, जिसकी न्याय-व्यवस्था नारी-वर्ग को न्याय दिलाने में अपर्याप्त और अक्षम है. उपन्यास में यथार्थ और आदर्श दोनों पहलू स्पष्ट हैं. जमींदारी प्रथा, जमींदारों की बाहरी चमक-दमक, दिखावा और उनकी विलासिता आदि लाखनगढ़ के ठकुर राजबहादुर के जीवन प्रसंगों द्वारा दिखाई गयी है तो दूसरी ओर देवागढ़ के जागीरदार माधवसिंह का चित्रण है जो इतने बड़े जागीरदार होते हुए भी सबसे भाई-चारे का व्यवहार करते हैं. उनके दुःख-सुख में शरीक होते हैं. उनका मानना है कि इन्हीं सब के बलबूते पर ही तो वे जागीरदार कहलाते हैं.

लक्ष्मी इसी महान संस्कारवाले जागीरदार माधवसिंह की इकलौती पुत्री है, जो वकालत पढ़ रही है और जिसे राजबहादुर जैसे विलासी और लालची जागीरदार ने षड़यंत्र द्वारा अपने छोटे पुत्र मानसिंह से विवाह के बंधन में बद्ध किया है. माधवसिंह को मानसिंह की बीमारी का कुछ पता नहीं. ससुराल आने पर भाग्यवश लक्ष्मी अलमारी खोलती है, जिसमें टाटा मेमोरियल अस्पताल की वे सभी रिपोर्टें हैं जिनसे पता चलता है कि मानसिंह को गले का कैंसर है और रोग दूसरी स्टेज तक पहुंच चुका है. लक्ष्मी और उसके परिवार के साथ इतना बड़ा धोखा हुआ है. माधवसिंह की जागीर और धन पाने के लिए राजबहादुर ने अपने तन और मन से मृतप्राय बेटे के साथ लक्ष्मी को बांध दिया है. लक्ष्मी की समस्त आकांक्षाएं इस आघात से चूर-चूर हो गयीं. वह कुछ देर के लिए हताश हुई - स्तब्ध हुई, लेकिन समझदारी से उस हवेली से अछूती निकल गयी और उसी समय उसने संकल्प ले लिया कि उसे इस अन्याय के ख़िलाफ लड़ाई लड़नी है. उसका मानना है कि यदि यही बीमारी विवाह के बाद होती तो वह उसे अपना भाग्य मानकर स्वीकार कर लेती, परंतु यह तो एक स्वार्थी इन्सान द्वारा की गयी साज़िश है, अन्याय है. वह प्रण कर लेती है कि कानून की पढ़ाई समाप्त कर उसे इस अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ना है.

'एक संकल्प' उपन्यास का रचना फलक विस्तृत है. विभिन्न पात्रों और घटनाओं को संगठित करके व्यापक-बोध देने का प्रयास किया गया है. बड़ी रचनाओं में विस्तार भय जुड़ा रहता है और कई बार लेखक अपने मूल विषय से भटक सकता है, परंतु यहीं पर लेखक की आत्मोपलब्धि की परीक्षा भी होती है - वह विभिन्न रचनात्मक बिंदुओं को एक व्यापक फलक पर समंजित कर सकता है. इस उपन्यास में जीवनानुभव की अभिव्यक्ति है, जो प्रासंगिक है. प्रसंगवश ही चेतना के आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ स्वरूपों की परिवेशगत स्थिति स्पष्ट होती है. बहली का चित्रण, अखाड़ों का वर्णन, भैंस का दूध निकालना, मथानी से नांद में बिलोया जाता दही और ताज़े सफ़ेद मक्खन के चित्र परिवेश की यथार्थता को प्रकट करते हैं. सरल प्रवाहमयी भाषा में लेखक ने उन जीवनानुभवों को चित्रित किया है, जिन्हें संवेदना की सहानुभूति प्राप्त है.

उपन्यास के पठन पर हो सकता है कि पाठक के मन में यह प्रश्न उभरे कि क्या आज से पचास-साठ साल पूर्व एक युवती समाज और न्याय-व्यवस्था के साथ टक्कर लेने की हिम्मत कर सकती थी ? क्या माधवसिंह जैसे आदर्श पात्र जो अपनी प्रजा को संतानवत स्नेह प्रदान करते हैं और अंततः अपनी समस्त भूमि का दान भी दे देते हैं - इसी स्वार्थी जगत के पात्र हैं ? प्रश्न स्वाभाविक है, परंतु हर रचनाकार के अपने जीवन मूल्य होते हैं. रचनाकार का सत्य जीवन के वास्तविक सत्य से भी अधिक सच्चा होता है. मानव-मन की एक उच्च भावना- 'काश ! ऐसा

हो पाता', आदर्श पात्रों और आदर्श स्थितियों का निर्माण करती है. लेखक को ईश्वरीय न्याय पर पूर्ण विश्वास है. इसीलिए तो जब यथार्थ जगत में असत्य और भ्रष्टाचार की जयजयकार हो रही है वहां इस उपन्यास में लेखक ने राजबहादुर को पक्षाघात से पीड़ित दिखाया है और केवल शरीर ही नहीं, उनका मस्तिष्क भी अपनी शक्ति खो चुका है. इसीलिए तो मानसिंह की मृत्यु के बाद लक्ष्मी अदालत से अपना मुकदमा वापिस लेती है और कहती है - "ऊपर वाली अदालत ने फैसला अपने हाथों में ले लिया है - ऊपरवाली अदालत से मेरा मतलब है - भगवान की अदालत !" यहीं पर उपन्यास का अंत होता है. लेकिन लेखक मात्र यही दिखाना नहीं चाहते कि बुराई का फल बुरा होता है वरना उन्होंने नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं की ओर इंगित किया है, जो आज भी समाज में हैं- शायद कुछ प्रतिशत कम हुई हों परंतु मिटी तो नहीं है. विधवाओं की स्थिति, आये दिन दहेज के कारण आत्महत्या करने पर बाध्य और ससुराल द्वारा प्रताड़ित की गयी नारियों के किस्सों से समाचार-पत्र भरे रहते हैं. अतः यह उपन्यास उन समस्याओं को दर्शाता ही नहीं वरन लक्ष्मी के माध्यम से नारी जाति को उनसे जूझने का मार्ग भी दिखाता है. मेरी दृष्टि में यह उपन्यास अपनी रोचकता के साथ-साथ प्रेरणादायक भी है.

२०३, गुलशन २, जुहू लेन,
अंधेरी (प.), मुंबई ४०० ०५८.

सामाजिक विसंगतियों एवं राजनीतिक छिछलेपन को उकेरता व्यंग्य संग्रह

✍ जयप्रकाश त्रिपाठी

"मिस अंडर वर्ल्ड" (व्यंग्य लेख संग्रह) : ***सत्यप्रकाश***
प्रकाशक : मीरा पब्लिकेशन्स, ४९ बी/३७ न्यायमार्ग,
इलाहाबाद (उ. प्र.) **मूल्य** : १५० रु.

तथाकथित नयी सभ्यता के इस दौर में बहुआयामी विसंगतियों-पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि मानव समस्याएं कैक्टस की तरह फैलती जा रही हैं. इन विसंगतियों एवं कुरीतियों से पूर्णतः मुक्ति पाना तो अति कठिन है, किंतु इन पर करारा प्रहार करके कम से कम इनके फैलाव को प्रतिबंधित किया जा सकता है और इसके लिए व्यंग्य एक सशक्त माध्यम है. इस सामयिक मांग को ध्यान में रखकर ही सत्यप्रकाश जी ने अपने व्यंग्य लेखों को 'मिस अंडर वर्ल्ड' में निरूपित किया है. प्रस्तुत संग्रह में व्यंग्य के जिस स्वरूप को उजागर किया गया है उसे व्यंग्य व्यंजक निबंधों की परंपरा से जोड़ा जा सकता है. संग्रह में संकलित छोटे-छोटे पर असरदार व्यंग्य निबंधों के माध्यम से सत्यप्रकाश जी ने समाज एवं राष्ट्र के विविध क्षेत्रों में व्याप्त विकृतियों को बेनकाब करने का एक सार्थक प्रयास किया है.

संग्रह के निबंध 'ईमानदार अफ़सर' में जहां नैतिकता-शून्य अफसरशाही चरित्र उजागर होता है वहीं 'उग्रवाद पर शोध' अलगाववादी ताकतों को ललकारने में सफल साबित हुआ है. 'इंग्लिस्तानी ज्वर' में पाश्चात्य अपसंस्कृति के प्रति बढ़ते सम्मोहन के प्रति शाकाहारी आक्रोश और 'खौफ़-ए-सफ़र' में यातायात के साधन (विशेष रूप से रेलयात्रा) व सुरक्षा की कुव्यवस्था की कलई खोलकर रख दी गयी है. 'चुनरी में दाग', 'श्रोताओं की चोरी', 'दिल्ली का मौसम' आदि निबंधों में अट्टहास के साथ-साथ करुणा का क्रंदन भी सुनाई देता है. भाषा की जटिलता से मुक्त सभी निबंध सहज संप्रेषणीय हैं जो इस संकलन की एक विशेषता के रूप में प्रकट होता है. अनेक रचनाओं में चिंतन के साथ-साथ हास्य का पुट पाठकों की अभिरुचि को बढ़ाने में उत्प्रेरक का काम करता है. निबंधों के शीर्षक का सुरुचिपूर्ण चयन निःसंदेह पाठकों के मन में जिज्ञासा का भाव जगाने में सक्षम है.

गीतकार सोम ठकुर के कथन के अनुसार 'अनुभूति के पकाव के बाद ही रचनात्मक उद्‌गार परिपक्व होता है.' इस उक्ति को सत्यप्रकाश जी अक्षरशः आत्मसात करते दिखाई पड़ते हैं. उनकी लेखनी निरंतर धारदार बनती जा रही है. यद्यपि इससे पहले सत्यप्रकाश की कई कृतियां प्रकाशित एवं सम्मानित हो चुकी हैं किंतु व्यंग्य विधा में उनका यह पहला प्रयास है जिसे पढ़कर उनकी साहित्यिक क्षमता एवं विविधता का पता स्वतः हो जाता है. वर्तमान में हिंदी व्यंग्य की तंगी को देखते हुए उनसे एक नयी उम्मीद बंधी है.

बहरहाल, 'मिस अंडर वर्ल्ड' में संकलित रचनाएं व्यंग्य विधा को प्रखर बनाने की दिशा में एक गतिशील कदम है. हालांकि कहीं-कहीं व्यंग्य का स्थूल प्रयोग, व्यंग्य की तिक्तता और बुनावट की कसावट में कमी खटकती है पर कुल मिलाकर सत्यप्रकाश जी का प्रयास स्तुत्य एवं सराहनीय है. पूरी उम्मीद है कि पाठकों को 'मिस अंडर वर्ल्ड' के पारायण से पूरा लाभ मिलेगा और इससे 'बिनु साबुन, पानी बिना, निर्मल करत स्वभाव' का प्रयोजन सिद्ध होगा.

बी-५, नालंदा, अणुशक्तिनगर,
मुंबई - ४०० ०९४.

निजत्व और समष्टि की कविताएं

✍ सूर्यकांत नागर

"अब वहां घोसले हैं" - (कविता-संग्रह) : ***दामोदर खड़से.***
प्रकाशक - प्रेरणा प्रकाशन, डहाणूकर कॉलोनी, कोथरूड, पुणे-४११०२९. **मूल्य** : ६० रू.

डॉ. दामोदर खड़से एक कथाकार के रूप में जाने जाते हैं. उनके अब तक चार कथा-संग्रह और दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं. 'अब वहां घोसले हैं', उनका प्रथम काव्य-संग्रह है. जैसा कि अधिकांश साहित्यकारों के साथ हुआ, खड़से जी ने भी शुरुआत कविता से ही की थी. तीस वर्षों की साहित्यिक यात्रा के दौरान उन्होंने समय-समय पर जो कविताएं लिखीं, उनमें से ही कुछ चुनी हुई कविताएं इस संकलन में संग्रहित हैं.

वस्तुतः विषय-वस्तु और रचनाकार की मनःस्थिति, अभिव्यक्ति के लिए विधा का चुनाव स्वयं कर लेती है. अंतस से संकेत आ जाते हैं कि विचार-विशेष के लिए कौन सी विधा सर्वाधिक उपयुक्त होगी. कवि-चित्रकार कभी चित्रों के माध्यम से अपने को व्यक्त करता है तो कभी कविता के माध्यम से.

कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए काव्य सुविधाजनक माध्यम, मगर वर्तमान की भयावहता में कोई भी सजग कवि केवल व्यक्तिवादी नहीं हो सकता. वह समकालीन यथार्थ से अप्रभावित रह नहीं सकता. श्री खड़से की कविताओं में जहां निजत्व की अनुगूंज है, वहीं समष्टि की भी है. सामाजिक-राजनैतिक विद्रूपताओं-विरोधाभासों के प्रति उनके अंदर जो आक्रोश है, उसकी वक्रीय अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में हुई है. इस हेतु कई अवसरों पर उन्होंने व्यंग्य का सहारा लिया है. उनके व्यंग्य ठंडे बलवे की तरह पाठक को उकसाते हैं और सोचने पर विवश करते हैं.

आम आदमी के कष्टों को औज़ार की तरह इस्तेमाल कर, उन्हें सीढ़ी बना, नेतागण किस तरह स्वार्थ-सिद्धि करते हैं, इसका सटीक चित्रण 'मेरा मौन : एक कारण' कविता में हुआ है. इसी तरह के विचार 'रोजी-रोटी' में अवसरवादी साहित्यकार के लिए व्यक्त किये गये हैं. आज सच्चाई और ईमानदारी कितनी बेमतलब हो गयी है, उसे 'सुकरात के बेटे' में शिद्दत से रेखांकित किया गया है. आज के कठिन दौर में मनुष्य आदर्शों और सिद्धांतों पर जीने की कोशिश करे तो जमाना उसका जीना दूभर कर देता हैं. यह निष्कर्ष है 'निष्कर्ष' कविता का. यही अवसरवाद, विद्रोह का स्वर सुनने पर राजनेता द्वारा अपनाया जाता है. विद्रोह की गर्जना सुन वह संबंधितों के हाथों सोने का मंजीरा थमा देता है ('सावधान' कविता). देश की भयावह स्थिति का प्रभावी चित्रण 'देश-वर्तमान' कविता में हुआ है. धर्म, राजनीति, शिक्षा, बेरोज़गारी, अवसरवादिता पर तीखा व्यंग्य है इस रचना में. संघर्ष-भावना और आशावादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति मिली है 'पुल' जैसी सशक्त कविता में. परिचय, अपरिचय में कैसे बदल जाता है, इसे नन्हीं सी कविता 'सबक' में उजागर किया गया है. 'पेड़' रेखांकित करती है उस स्वार्थांध मनुष्य को जो पेड़ के उपकारों को भुलाकर उसे अपने लिए एक कुर्सी में तब्दील कर देता है. फूल के साथ कांटे के अस्तित्व में निहित दर्शन को 'अस्तित्व' में दर्शाया गया है. प्रेम और दर्शन की ऐसी ही अभिव्यक्ति हमें 'सूर्यास्त', 'विसर्जन', 'इंद्रजाल', 'तुम्हारे जन्म-दिन पर' आदि कविताओं में दिखायी देती है.

खड़से जी की कविताओं में सादगी के साथ गहराई है, सहजता में गंभीरता है. एक जागरूक कवि की ये कविताएं पठनीय भी हैं और विचारोत्तेजक भी.

८१, बैराठी कॉलोनी नं. २, इंदौर - ४५२ ०१४

सामाजिक सरोकारों से सामना करती कहानियां

✍ राजेंद्र आहुति

"काले कोट का सफ़ेद दिन" (कहानी संग्रह) : ***रामदेव सिंह.***
प्रकाशन संस्थान : नयी दिल्ली - ११० ००२
मूल्य : ८० रू.

'काले कोट का सफ़ेद दिन' कथाकार रामदेव सिंह का प्रथम कहानी संग्रह पढ़ने के क्रम में स्वर्गीय चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' की यादें मन मस्तिष्क में टहलती रहीं. गुलेरी के संदर्भ में प्रचलित है कि उन्होंने चंद कहानियां लिखकर ही अति प्रसिद्धि पा ली थी. वैसा ही कथातत्व रस है रामदेव सिंह की नौ कहानियों में, जिनमें माटी की गंध है, आगंतुकों से अपनत्व का भाव है, रेल की यात्रा की सामयिक त्रासदी है, प्रेम का आलिंगन है, जीवन की भूलभुलैयों में भटकते-अटकते लोगों की एक सामाजिक चेतना है, और है बहुत कुछ !

उत्तर आधुनिकता की हवा में उड़कर स्त्री देह को एक वस्तु के रूप में नये-नये प्रयोग करके प्रस्तुत करने की एक तीव्र होड़ कथाकारों की क़लम में प्रवेश कर गयी है. ऐसे परिवेश में प्रवेश कर जाने की प्रगतिशील बेचैनी रामदेव सिंह की कहानी में देखने को नहीं मिलती है. वह इसलिए कि वे सीधे गांव से जुड़े रहने

के साथ-साथ परिवार से, समाज से, सामाजिक सरोकार से भी जुड़े हुए हैं और अपनी पुष्ट उंगलियों का दबाव चैनल को बदलने वाले रिमोट पर रखने से ज़्यादा उत्तम समझते हैं दृष्टि एक ही ज़गह स्थिर किये रहने में.

संग्रह की पांचवीं कहानी 'पंचैती' मेरी समझ से संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है. 'पंचैती' गांव की कहानी है जहां ठकुरों में परंपरागत प्रचलित एक अहम् की लड़ाई बड़ी चालाकी से जारी है. अपनी-अपनी मूंछें ऊंची रखने में दिमाग़ी फितूरों से ठकुरों के वंशज बाज नहीं आते. इसी क्रम में छाती तानकर चलने की चाहत से जानलेवा घटना घटती है जिसमें इरादा तो मृत्यु का होता है और चाल सबक सिखाने की. अर्थात सांप जीवित रहे सिर्फ़ फन कुचल जाये और दोषी लाठी भी न हो. जानलेवा हमले के कारण पंचायत बैठती है. न्याय और मुआवजे की नौटंकी का शाश्वत खेल पुनः खेला जाता है. रुपये से न्याय ख़रीदा जाता है. इस पर विश्वास होने लगा है लेकिन पंचैती में पंचों के द्वारा रुपये लेकर दंड से मुक्त हो जाने की ग्रामीण प्रथा को दर्शाया गया है. जो बनिहार जैसे मजदूरों के लिए सामाजिक वर्गीकरण की भयावह त्रासदी है. कहानी के संदर्भ में विस्तार के तार को खोलने से अच्छा कहानी में प्रयोग किये गये कुछ संवादों को उद्धृत करना उचित मान रहा हूं. "पांच पंच से बड़ी कोई अदालत नहीं होती और थाना-कचहरी में होता ही क्या है ? उसमें भी गरीब आदमी, अगर पंचों के बीच शंकर अपराध कबूल नहीं करे तब इसे थाना भेज दिया जायेगा. मेरी तो इच्छा है थाना ही भेज दें. कुछ दिन जेल की खिचड़ी खा लेगा तो होश ठिकाने आ जायेगा. लेकिन इसमें लछमना का इलाज़ तो नहीं हो सकेगा जो अभी सबसे ज़रूरी है. यहां पर कुछ ऐसा किया जाये कि लछमना का इलाज़ भी हो सके और शंकर को सज़ा भी मिल जाये."

जो पिता आज के परिवेश में बेटी को उम्र का बोझ समझकर उसे अपनी जागृत प्रतिभा को निखारने-संवारने से पूर्व ही बेटी की शादी कर देने में ही अपना, परिवार और बेटी का हित मानते आ रहे हैं, उन जैसे अंधपिता के लिए एक सबक है 'हम भारत की बेटी हैं !' कहानी. साथ ही है - मध्यमवर्गीय सपनों के टूटने की कसक भी. प्रगतिशील दिमाग़ों के वैचारिक द्वंद्व हालात के वशीभूत किस तरह से परंपरा और रूढ़ियों के गलियारों में बहलते-टहलते ढल जाते हैं - उक्त कहानी को पढ़कर समझा जा सकता है.

हम अपने गंतव्य स्थान तक की दूरी को तय करने के लिए रेल की यात्रा का सहारा लेते हैं. आरक्षित टिकट लेकर यात्रा में भविष्यगत असुविधा से मुक्त हो जाना चाहते हैं. फिर भी सफर में अति भीड़ की स्थिति उत्पन्न हो जाने से मन ही मन रेल की वर्तमान व्यवस्था पर पर झुंझलाते-चिल्लाते भी हैं. रेल की यात्रा में यात्री को सुख-सुविधा मुहैय्या करवानेवाले ट्रेन टिकट परीक्षक को यात्रानुमा कार्य करते-करते किन-किन समस्याओं से मुठभेड़ भी करनी होती है इसे साहित्य में प्रथम बार समझाने और महसूसने का अवसर 'सफर' कहानी को पढ़कर मिला है जो संग्रह की प्रथम कहानी है.

यात्रा समाप्ति के बाद प्लेटफॉर्म से बाहर जाने के समय निकास द्वार पर साथ के टिकट को टिकट संग्राहक पद पर विराजित रेल कर्मचारी को टिकट दिखाने और देने होते हैं - उसी समय यात्रा संबंधी नियमों को किन्हीं कारणवश निर्वाह न कर पाने की वज़ह से आर्थिक दंड भी देने होते हैं. जहां वे टिकट यात्री भी पकड़े जाते हैं. इस क्रम में रेल द्वारा मुहैय्या करायी गयी पुलिस की सहायता टिकट संग्राहक लेते हैं. चाहे भय से या प्रेम से. कभी उचित तो कभी अनुचित व्यवहारों से यात्रियों की जेबों की तलाशी लेकर अपनी जेबें भी भरी जाती हैं. टिकट संग्राहक किस हथकंडे और भय को उकसा कर न्यायिक दांव पेंचों के साथ स्वार्थपूर्ति करने में यात्री को तंग करते हैं इसका सफल वृतांत है संग्रह की शीर्षक कहानी 'काले कोट का सफ़ेद दिन' जिसे पढ़कर टिकट संग्राहक के मन में बैठी स्वार्थ की क्रूरता के साथ मानवीय यथार्थ संवेदना के मंथन तत्व को भी समझा जा सकता है.

असमय प्रगट हो आये दुखों से परदेस में उबरने के लिए सर्वप्रथम हम अपनी स्मृतियों से ऐसे लोगों को ढूंढने में संलग्न हो जाते हैं जिनकी उपलब्धता वहां रहने की होती है जहां समस्या मुंह बाये खड़ी है. एक-एक दरवाज़े पर परिचय युक्त व्यक्ति की खोज़ भी करने में लग जाते हैं. योग्य पात्र मिल जाने पर हम उसे वाक्य-जालों से पिघलाने का काम करते हैं. उसे कुछ द्रवीय होते देख अपनी मंशा पूर्ति में उनके घरों की नींव तक जुड़ जाने का वायदा करके वह पा भी लेते हैं जो चाहते हैं पाना, और लौट जाने के बाद अपनी चतुराई की चर्चा और दूसरों की मूर्खता में तल्लीन होकर किये वायदों को नेता की तरह भूल जाना मनुष्य बने रहने का कर्तव्य समझ लेते हैं. जिसे अच्छी तरह से दर्शाया गया है. "आगंतुक" कहानी में, जो मानव के स्वभाव नहीं बदलने का एक मर्मस्पर्शी दस्तावेज़ है.

वर्तमान परिवेश लोभ-लाभ के क्षोभ में अपने रक्त समूहों की सुचिता से विमुक्त हो जाने का है. दो सहृदय मृदुल बोल को दशकों से तड़प-तरस रहे हैं मानवीय कान भी, ऐसे बयार में हताश-उदास मन में नव संचार की ज्ञानवायु प्रवाहित करके मन में समायी व्याप्त धुंध को सार्थक तार्किकता से खुरच-खुरच के, जीवन के उदाहरणों से हटा-घटा के दलदल के अंतल में नयी कोपलें उगाने की कोशिश करना कोई हंसी खेल नहीं. 'इल्युजन' कहानी में नायक मुकुल तो एक प्रतीक है, ऐसे सहस्त्र मुकुल

हमारे आंखों के ईर्द-गिर्द हैं, जिनमें से कई आत्महत्या भी कर चुके हैं. एक मुकुल को आत्महत्या के कगार से बचाके जीवन के शेष सुखों से परिचित हो लेने की साहसिक कोशिश है 'इल्युजन' कहानी !

स्त्री के जीवन की सनातन त्रासदी का लेखा जोखा है 'दुःस्वप्न का सुखांत', जिसमें पति के बिगड़ने और सुधरने की प्रक्रिया को दर्शाया गया है. 'खुली आंखों के सपने' और 'आउटर सिगनल' एक तरफ़ा प्यार की विवशता का एकालाप है. अब तो प्रायः पुरुष और नारी दोनों आलिंगन के एक अवसर के लिए विकल्प की तलाश में न जाने कहां-कहां भटकते रहते हैं. कार्यालय के सहकर्मी को अपना 'बिस्तर' समझने वालों के लिए एक सबक है कहानी -'खुली आंखों के सपने'. प्रेम की चाशनी में पगी इस कहानी में गांव की दारुण, भयावह होती जाती स्थितियों के साथ पत्नी के प्रति और बच्चों के प्रति एक जागरूक भाव भी है, जहां नायक निर्णय ले बैठता है कि अब वह बच्चों और पत्नी को अपने साथ ही रखेगा ताकि जीवन में पुनः किसी सुमी का हस्तक्षेप न हो सके !

नौ कहानियों के कथ्य में सांस्कृतिक पहचान तलाशने की छटपटाहट और शिल्प में मौलिक विन्यास रेखांकित करने की पूरी कोशिश है जिसके कारण रचनाएं सहज ही स्वयं को बिना एक मिनट भी बाधा उत्पन्न किये पढ़वा ले जाने में तत्पर हैं. साथ ही नैतिकता और अनैतिकता के बीच झूलते विचारों का गुलदस्ता है 'काले कोट का सफ़ेद दिन.'

कहानी संग्रह के फ्लैप पर काशीनाथ सिंह (प्रसिद्ध कथाकार) का कथन कहानी के संदर्भ में बहुत ही मार्मिक और गौर तलब है- "रामदेव सिंह - जिन्हें प्यार से उनके दोस्त-मित्र आर. डी. कहते हैं -उसी रामदेव ने एक से बढ़कर एक कहानियां लिखीं. बिना किसी हड़बड़ी के, भागमभाग के. जैसे फूंक-फूंककर कदम रख रहे हों. लेखक के अपने अनुभव-क्षेत्र की रेलवे की दुनिया की कहानियां हमारी आपकी भी देखी भाली. वही प्लेटफॉर्म, वही रेल के डिब्बे और बोगियां, वे ही यात्री, वे ही रेल्वे कर्मचारी और पुलिस. मगर रामदेव की यह दुनिया रेल की पटरियों पर नहीं, ज़िंदगी की धड़कनों पर चलती और ठहरती है. वह छुकछुकाती नहीं, धुकधुकाती और धधकती है. इसलिए कि लेखक हर कहानी के प्रति 'सीरियस और सिंसियर' है ! चाहे थीम का चुनाव हो, चाहे भाषा का. संवेदनाओं से तर एक पथरीली दुनिया. नौकरी रेल की, लेखन में चाल बैलगाड़ी की. सतर्क और चौकस और ज़िम्मेदार होंगे - कहानी में, तो यही होगा ! क्या मैं झूठ बोलिया ? पढ़कर देखें तो !"

ए १३/६८, भगतपुरी,
वाराणसी २२१ ००१ (उ. प्र.)

विविध आयामी बहुरंगे रचनालोक का परिचय

✍ डॉ. विनय चौधरी

"यह कसमसाहट"- (कविता-संग्रह) : *उल्लास मुखर्जी.*
प्रकाशक - मौसमी मुखर्जी, मुखर्जी प्रकाशन, हाटपाड़ा, पाकुड़ ८१६ १०७ (झारखंड). **मूल्य** : ५१ रू.

'यह कसमसाहट' हिंदीतर भाषी हिंदी कवि उल्लास मुखर्जी के विविध आयामी-बहुरंगे रचना-लोक का परिचय कराता है. यह द्वितीय काव्यकृति उल्लास मुखर्जी के उद्दीपमान कवि रूप के साथ-साथ उसके सिद्ध रचनाकार व्यक्तित्व का प्रमाण है. इस काव्य-संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी सहजता एवं सरलता जो विषय-वस्तु एवं शब्द विन्यास दोनों स्तरों पर है. सहजता जहां प्रकृति का पहला कदम होता है, वहीं किसी भी कला का अंतिम कदम, अर्थात सुसिद्ध रचनाकार की ही कला-कृति सहज रूप में अभिव्यक्त हो पाती है. 'यह कसमसाहट' में यह गुण विद्यमान है.

संग्रह की काव्यभाषा आम बोलचाल की है. अलंकार, छंद, रस, तुक और लय से मुक्त यह भाषा अपनी सादगी से जहां हमें प्रभावित करती है, वहीं सर्वाधिक संप्रेषण सक्षम भी है. अतः इस संग्रह की रचनाओं में जहां एक ओर शिष्ट-विशिष्ट जनों को प्रभावित करने की क्षमता है वहीं किसी असाहित्यिक को भी बरबस बांध लेने की शक्ति. 'यह कसमसाहट' की बहुतेरी कविताएं कविता न लगकर सपाट-सामान्य कथन-सी प्रतीत होती हैं लेकिन ऐसा सतही तौर पर देखने से ही लगता है, बारीकी से देखने पर उनमें निहित लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ उन्हें कविता का संस्कार प्रदान कर देता है.

'यह कसमसाहट' की कविताओं के विषय बहुत बड़े-बड़े नहीं 'छोटी-छोटी बातें' हैं, लेकिन कवि उन छोटी-छोटी बातों को ही गरिमा प्रदान करके अपनी गहन कवि दृष्टि को प्रमाणित करता है. एक ओर जहां इनके विषय-क्षेत्र में नितांत वैयक्तिक एवं दैनंदिन की बातों का अनावश्यक-सा लगने वाला आवश्यक उल्लेख है वहीं सामाजिक समस्या, राष्ट्रीय चिंता एवं अंतर्राष्ट्रीय प्रसंग भी शामिल है. संग्रह की कविताएं विषय वैविध्य के कारण जहां अख़बारी कतरन-सी प्रतीत होती हैं, वहीं वे कवि की सजगता एवं संवेदनशीलता को भी प्रमाणित करती हैं, एक ओर जहां कवि अपनी एक कविता मात्र सुनाने के लिए अस्मिता संकट से गुज़रता है, वहीं दूसरी ओर हवाला कांड, सी.टी.बी.टी., परमाणु बम बनने के बाद, परमाणु विस्फोट, मानव बम, गैसल रेल दुर्घटना, बिहारी मज़दूर की आत्मकथा आदि प्रादेशिक, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों से भी जूझता है.

'यह कसमसाहट' में कवि का विशाल जीवनानुभव भी झांकता है और उसके सार्वजनिन बना देने की कला भी. सूरदास आदि महाकवियों की महत्ता इसी में है कि वे सार्वजनिन अनुभूतियों को बहुत अच्छी तरह पकड़ पाये हैं. कवि उल्लास ने भी उस दिशा में यत्कंचित प्रयास किया है. वे अपने वैयक्तिक अनुभव एवं संघर्ष को सार्वजनिन बना देते हैं -उदाहरण स्वरूप 'एक मकान खाली है', 'चक्रव्यूह के बावजूद'.

इस संग्रह की कविताएं जहां कवि की आंतरिक कसमसाहट की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं, वहीं कवि के अद्‌भुत आत्मसंयम को भी रेखांकित करती हैं. इसीलिए अनेक कविताएं महज दो-चार पंक्तियों में समाप्त हो जाती हैं. हम जानते हैं कि आदमी जब अन्याय, अनीति एवं सामाजिक विद्रूपता का सक्षम विरोध नहीं कर पाता तो अपने ही भीतर कसमसाता और छटपटाता है, यही कसमसाहट व छटपटाहट व्यंग्य के रूप में व्यक्त होती है. संग्रह की अधिकांश कविताएं भी अपने शीर्षकानुरूप ही हैं और व्यंग्यपरक होने के साथ-साथ बेधक भी.

'यह कसमसाहट' का केंद्रीय स्वर व्यंग्य है. कवि ने सामाजिक विकृतियों यथा - 'हड़ताल', 'इक्कीसवीं सदी की मां', 'महिला जागरण', 'आरक्षण' ... आदि. राजनीतिक विद्रूपताओं - 'धन्यवाद ज्ञापन' तथा सांस्कृतिक पराभव - 'देश गया भाड़ में' आदि संदर्भों को अपने व्यंग्य का निशाना बनाया है. लेकिन साथ ही वे कदम-कदम पर अपनी आलोचना से भी बाज नहीं आते. वास्तव में व्यंग्यकार वही हो सकता है जो अपनी आलोचना स्वयं कर सके. आत्मालोचन की यह प्रवृत्ति इस संग्रह में प्रचुर है, बल्कि इसी आत्मालोचन के कारण ही अधिकांश कविताएं, आत्मकथात्मक शैली में हैं, जैसे - *'जब हम किसी अन्याय का विरोध नहीं कर सकते हैं / बल्कि अपनी सुविधा के लिए अन्याय का ही समर्थन करने लगते हैं / तब हम एक काम और कर सकते हैं / हम अपनी मूंछे मुंडवा सकते हैं.'* 'मार के डर से' कविता में भी कवि आत्मस्वीकार के स्वर में कहता है - *आप हर तरह के अन्याय को अनदेखा करते रहे / मार के डर से, और हम / हर तरह के अन्याय का साथ देते रहे / मार के डर से.*

इस काव्य-संग्रह में हमें नारी के विविध रूपों के दर्शन होते हैं, मसलन - 'वह एक लड़की है', 'इक्कीसवीं सदी की बच्ची' और इन दो छोरों के बीच है - 'बीवी-पत्नी-वाइफ', 'मैके की याद में', 'अपराजिता', 'बीवी जब बीमार होती है'...

'यह कसमसाहट' की विषयवस्तु में हमें जीवन की चारों सिद्धियों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के भी विभिन्न व्यंग्य रूप दिखाई पड़ते हैं. धर्म के रूप में - 'गणेश दुग्ध-पान कांड', अर्थ के उदाहरण रूप में -'रुपये फेंकिए, कवि बनिये', 'बड़ा मजा आया', 'इक्कीसवीं सदी की ओर' आदि. कामगंधी कविताएं- 'नपुंसक', 'प्यार', 'सोचो तो दीवार'...आदि तथा मोक्ष के रूप में 'महात्मा' को गिनाया जा सकता है.

कवि उल्लास को सामाजिक वर्ग विषमता का बोध भी नये रूप में सालता है जब कवि सम्मेलन में वितरित नाश्ते की प्लेट में अंतर देखता है. और आरक्षण का दंश झेलता कवि मानता है कि - 'सबसे बड़ा पाप,' ऊंची जाति में जन्म लेना है. अतः कवि अपने 'सपनों का भारत' में लिखता है - 'न यहां, कोई चमार होगा / न कोई भूमिहर होगा / आरक्षण की ज़रूरत न होगी / तब यहां सिर्फ इंसान होगा / सपनों का यह देश होगा." निष्कर्षतः कवि की तमाम व्यंग्यपूर्ण आलोचनाओं के पीछे उनकी सकारात्मक सुधारवादी सोच और दृष्टि है. इसीलिए उनकी कविता कहती है...'बचेगा सिर्फ इंसान'.

हिंदी विभाग, पार्वती विज्ञान कॉलेज, मधेपुरा ८५२११३

लघुकथा

उपलब्धियों का हिसाब

अमरलाल सोनी

ज़िंदगी भर संतानों को समर्थ बनाने में असमर्थ हुआ 'बूढ़ा बाप' अपने पोतों-पोतियों को हंसता-खेलता देखकर खुश था. अपने पुरुषार्थ पर उसे आत्मसंतोष था. समर्थ संतानें उस संतोष देने वाले पुरुषार्थ को धिक्कारने एवं बूढ़ी हड्डियों को टुकराने की तैयारी में प्रगति कर रही थीं. उस दिन बूढ़ा बाप अपने पोतों को गोद में बिठा कर उन्हें अपने ज़माने की कहानियां सुना रहा था. एक पोता बोला -"बाबा हमको नयी कहानियां सुनाइए." दूसरा बोला -"नहीं, बाबा हमें यही कहानी सुनना है." इसी बात पर दोनों लड़ने लगे. एक-दूसरे को नोचने-मारने लगे. बाबा ने उन्हें मना करने की कोशिश कर ली. अंत में अपना सिर दोनों के बीच में कर दिया. बाबा के सफेद बाल नोचे गये और छः-सात थप्पड़ भी पड़ गये. दोनों को गोद से उतार सिर सहलाता हुआ वह आंगन की ओर चलने को हुआ.

इस कमरे के शोरगुल से प्रभावित होकर बाबा की दो बहुएं प्रकट हुईं. अपने-अपने बच्चों को डांटने के बदले उन्होंने बूढ़े पर भौंहें चढ़ायीं. बड़ी बोली - "आप बूढ़े हो गये हैं. धूप में बाल पका लिये हैं. शर्म नहीं आती. बच्चों को लड़ना सिखाते हैं. उन्हें संभाल नहीं सकते तो पास क्यों बुलाते हैं ? "होमवर्क" कराने के बजाये कहानी सुना-सुना कर बच्चों का दिमाग़ ख़राब कर दिया." दूसरी ने यह शुभ वाक्य पढ़े - "मैं उनसे कहकर अलग घर ले लूंगी. यहां तो बच्चों का भविष्य बर्बाद हो जायेगा."

मनेंद्रगढ़, कोरिया, छत्तीसगढ़ ४९७ ४४२

२६ जनवरी को गुजरात में आये भीषण भूंकप ने भारत से दूर बसे लोगों के दिलों में भी हलचल पैदा कर दी. प्रस्तुत हैं दो प्रवासियों की रचनाएं ...

यह किस्मत का खिलौना आदमी

✍ **सोहन राही**

हर्फ़ उनके रह गये बस ज़िंदगी को ढूंढते,
चीख जन की मौत की परछाइयों में खो गयी
हाथ उनके ढूंढते ही रह गये अपनों के हाथ,
रूह थक कर जिस्म की गहराइयों में सो गयी !

मौत की ख़ामोशियों में आंसुओं की बूंद-बूंद,
छिन गयी पलकों की वादी के जहां से इस तरह
जिस तरह खिलने से पहले तोड़ कर गुंचे कोई
लूट ले सारे जहान-ए-रंग-ओ-बू की आबरू !

ढूंढती ही रह गयीं आंखें किसी मासूम की,
मां की ममता का सहारा, बाजुओं का झूलना
भाई बहनों से बिछड़ कर ख़ाक में गुम हो गये
बाप की आंखों में जम कर बेबसी ही रह गयी !

चुप के सहराओं में नाजुक उंगलियां पथरा गयीं,
ज़िंदगी के ख्वाब सन्नाटे में किरची हो गये
रौशनी को ढूंढते कितने ही चंदा ढल गये,
वक़्त से पहले यहां कितने बदन मिट्टी हुए !

कितनी आहें, कितने आंसू इस ज़गह ख़ामोश हैं,
हाये यह कुदरत, यह किस्मत का खिलौना आदमी
कितनी आवाज़ों ने पहने मौत के काले कफ़न,
किस क़दर लाचार और बेबस है इनसां आज भी !

63 हैमिल्टन एवेन्यू, सरबिटन,
सरे, इंग्लैंड KT6 7PW

तीन शब्द चित्र

✍ **उषा राजे सक्सेना**

(१)

दुखों के अथाह सागर में
तैरते - जीवित,
आंखें भय से विक्षिप्त
आशंकित
देखतीं विनाश के नृशंस
तांडव को...

(२)

लाशों से पटे मैदान,
आंसुओं से उफ़ने सैलाब,
मार कर ज़माने को
ख़ुद मर गयी मौत
वीरानगी में...

(३)

वो मेरा घर,
वो मेरा गांव,
वो मेरी गली,
वो मेरी सड़क,
वो मेरे लोग,
मेरे नातेदार,
सब ज़मीदोज़...

आदमी हो गया है नंग...

छब्बीस जनवरी का था उमंग ।
हाथों में सबके था तिरंग ।।

देश में छाया खुशियों का रंग ।
अचानक हो गया सब बदरंग ।।

किसी ने क्या छेड़ा है जंग ।
मनुज की ज्यादतियों के संग ।।

सिखाने को उसको कुछ ढंग ।
अरे! आदमी हो गया है नंग ।।

चढ़ेगा नहीं उस पर कोई रंग ।
उसने पी है दुश्कर्मों की भंग ।।

54 हिल रोड,
मिचैम, इंग्लैंड CR6 2HQ

धरती

✍ उर्मिल जैन

काश !
कोई कह दे -
सीधे चलते रहो -
ले जायेगी यही तुम्हें
मंजिल तक,

ढूंढ़ता रहता है मन
जीवन के बीहड़ पथ के
दोराहे चौराहों की
उलझनों के बीच
एक आसान सा रास्ता,

हरेक मोड़ से - दुविधा की
दस गलियां निकलती हैं -
फिर हर गली और दस गलियों में
खो जाती है,
कोई हल नहीं मिलता,

जैसे अंधेरों की काली सतह पर
खुरच-खुरच कर
एक सफ़ेद रेखा निकाली जाये -
जैसे जंगल में कंटीली झांड़ियां हटा
एक पगडंडी निकाली जाये -
जैसे ठहरे हुए पानी में
चलने के लिए -
रास्ता पारने के लिए -
मिट्टी इकट्ठी कर
एक मुंडेर बनायी जाये -

सतह, गली, पानी, पगडंडी
इन सबके लिए
धरती तो है अपने पास
बस निष्क्रियता की काई हटाकर
राहें उजागर करने की देर है,

क्योंकि
अंधेरे कभी सच नहीं होते
कांटे कभी सच नहीं होते
उफ़ान कभी सच नहीं होते -
सच होती है सिर्फ धरती
वो भी
अपने अंदर की धरती -
सफ़ेद चादर सी,
बिछी सी,
यथार्थ सी -
विश्वास की धरती -
सत्य की धरती -
ज्ञान की धरती,

काश !
चल पड़ें हम
इसी धरती पर
ले जायेगी यही
हमें मंज़िल तक.

ए-१३, शतदल, आज़ाद लेन,
अंधेरी (प.), मुंबई-४०० ०५८

एक बार फिर...

✍ देवदत्त वाजपेयी

नीम की फुनगी से
उतर आयी धूप...
एक बार फिर,

धूमिल याद-सी
बिखर गयी धूप...
एक बार फिर,

टपक गयी अधरों पर
मीठी निबौली
दिशाएं प्रशस्त हुईं...
एक बार फिर,

महकी फुलबगिया
पिछवारे आंगन में
फैल गया ऐपन दालान पर...
एक बार फिर,

चहक उठी गोरैय्या
फिर से खपरैल पर
चटक गयीं गांठें लहसुन की...
एक बार फिर,

ठिठुर गयी धूप
सांझ के अलाव में
ढिबरी में कांप गयी लौ...
एक बार फिर.

नन्हा-सा द्वीप - सुधियों का

कलकल प्रवाह बीच
सुधियों का नन्हा-सा द्वीप
उलीच गया रंग
होली के फगवा मौसम में
भिगो गया कॉलर कमीज़ का-
तर गया अंतरतम.

सुधियों का नन्हा-सा द्वीप
बरसा गया नीर
बेमौसम
भुलभुलाती मेड़ पर
और महका गया हवाओं को
सोंधी सुवास से.

सुधियों का नन्हा-सा द्वीप
ले गया हिलोर,
फीका कर गया
रंग महावर का
धोकर चरण.

सुधियों का नन्हा-सा द्वीप
न जाने कहां डूब गया
गुम हो गया - दब्बू-सा
उसी अतीत के
उसी प्रवाह में...

५१ शांतिनिकेतन,
अणुशक्तिनगर, मुंबई-४०० ०९४

टूटा हुआ आदमी

✍ *अशोक सिंह*

टूटे हुए आदमी को
एक कबाड़खाने की तरह लगती है सारी दुनिया,
उसके पास होता है एक टूटा हुआ दिल
जिसमें होते हैं ढेर सारे टूटे-फूटे सपने,
रोशनी अच्छी नहीं लगती उसे,
अच्छी नहीं लगती महफिल की रौनकें,
जीवन की रंगीनियां दंश सी चुभती हैं.
सारे ज़माने से हो जाती है विरक्ति
रिश्ते-नाते सब झूठे लगते हैं,
रंगों में भी हो जाती है उसकी दिलचस्पी ख़त्म.
हरे पेड़ उसे हरे नज़र नहीं आते,
चांदनी चिलचिलाती धूप लगती है उसे.
नपे-तुले शब्दों में करता है बातें,
भीड़-भाड़ से रहता है अक्सर दूर.
सब कुछ टूटा-टूटा सा दिखता है,
वह आदी हो जाता है देखने
पूरी साबुत दुनिया को भी टुकड़े-टुकड़े में.
गंभीरता की चादर ओढ़,
करता है अपने अकेलेपन में वास
और पार्क की आखिरी बैंच,
या किसी सुनसान सड़क की पुलिया पर बैठ
घंटों खुद से बातें,
सभागार की सबसे पिछली सीट पर
अनामंत्रित की तरह बैठता है वह.

शायद तुम नहीं जानते

जब तुम किसी को गरिया रहे होते हो बेलौस
किस कदर अनजाने बह रहा होता है
तुम्हारी भाषा में तुम्हारा आदमीपन,
तुम झूठ बोल रहे होते हो
और तुम्हारे अंदर टूटकर बिखर रहा होता है
किसी का विश्वास,
अपनी भाषा में मिठास घोलते जब बतिया रहे होते हो
शब्दों की ओट में छुपा बैठा तुम्हारे भीतर का आदमी
भाषा की दरारों से झांक रहा होता है,
गढ़ रहे होते हो जब सैकड़ों झूठ
एक सत्य को छुपाने की कोशिश में
सत्य निखर रहा होता है तुम्हारे झूठ की भट्टी में तपकर,
तुम किसी को धोखा दे रहे होते हो
और अपने-आपको छलते
खुद अपने ही हाथों पकड़े जाते हो,
किसी की बुराई की चर्चा कर रहे होते हो
और उसे जीवन मिल रहा होता है,
उठा रहे होते हो किसी पर एक उंगुली
और खुद पर ही उठ रही होती हैं चार उंगुलियां,
तुम मंदिर में खड़े जिस ईश्वर को पूज रहे होते हो
वह ईश्वर जान रहा होता है
कि तुम उसे नहीं
अपने दुखों को पूजने आये हो.

जागृति मंच, दुमका - ८१४१०१

स्वप्न

✍ *रजनी मोरवाल*

मैं ख्यालों में
तुम्हारे
आ बसूंगी
तुम गिरह की
बात बोलो तो सही,
मैं अधरों को
तुम्हारे
राग दूंगी
तुम प्रणय के
गीत गाओ तो सही,
मैं जीवन को
तुम्हारे
रंग दूंगी
तुम हृदय की
राह खोलो तो सही,
मैं स्वप्न हूं
कल्पना साकार दूंगी
तुम नयन के
द्वार खोलो तो सही.

बी-३०२, ओ.एन.जी.सी. कॉलोनी,
चांदखेड़ा, अहमदाबाद-३८०००५

ग़ज़लें

✍ अनिरुद्ध सिन्हा

(१)

कांपते होंठ से मुस्कुराया गया ।
सब्र को सिसकियों से दबाया गया ।।

गुम हुआ आसमां से कबूतर कहां ।
अम्न के नाम पर जो उड़ाया गया ।।

दोस्ती की कसम तेज होने लगी ।
ज़िक्र में जब मेरा नाम लाया गया ।।

फूल का खेल था बाद इसके बहुत ।
हर किसी का वहां दिल दुखाया गया ।।

होंठ से जो न उतरा कभी एक पल ।
प्यास को वो समंदर दिखाया गया ।।

(२)

वो इधर सद्भावना की आड़ में छलता रहा ।
मैं इधर सच मानकर चलता रहा चलता रहा ।।

वक़्त की परछाइयों को शाम का चेहरा न कह ।
मैं इन्हीं परछाइयों में मोम बन गलता रहा ।।

दोस्ती ने इस तरह तन्हाइयों को दी हवा ।
जिनके दामन में उम्मीदों का नगर जलता रहा ।।

इस नदी की गोद में सूरज कभी आता नहीं ।
पर्वतों के पांव छूकर ही सदा ढलता रहा ।।

दिल की इस मासूमियत को बांझ मत कहिए हुजूर ।
कम से कम इक ख़्वाब दिल में हर समय पलता रहा ।।

गुलज़ार पोखर, मुंगेर ८११२०१ (बिहार)

✍ कृष्ण सुकुमार

हैं खड़े बेकार के शक तुझको घेरे बीच में ।
प्यार की लौ बुझ रही है तेरे-मेरे बीच में ।।

मैं उजालों की दुआ महसूस करता रह गया ।
आ गये जाने कहां से फिर अंधेरे बीच में ।।

हम सभी चारों तरफ़ की भीड़ हैं, आक्रं तो हैं -
ये सियासी चंद बाज़ीगर-सपेरे बीच में ।।

क्यों न जाने ख़्वाब हमको चुग रहे हैं रात-दिन ।
हम पड़े रहते क्यों ख़ुद को बिखेरे बीच में ।।

वक़्त से पहले फ़ना होना है मुश्किल रात का ।
क्यों न हम ख़ुद ही जगा दें कुछ सवेरे बीच में ।।

१९४/१०, सोलानी कुंज, रुड़की विश्वविद्यालय,
रुड़की २४७ ६६७ (उ. प्र.)

✍ शैलेंद्र चौहान

हम इस व्यवस्था के सताये हुए हैं ।
रोटी की तलाश में यहां आये हुए हैं ।।

हमारी पीठ के निशान न देखिए ज़नाब ।
हम अज़ब मिट्टी के बनाये हुए हैं ।।

बेवज़ह तकल्लुफ़ न कीजिए हुज़ूर ।
आपकी आबरू हम बचाये हुए हैं ।।

झूठी हमदर्दियों से क्या होगा भला ।
आप तो अब भी फ़ासला बनाये हुए हैं ।।

औक़ात पर अपनी उतर सकते नहीं ।
इंसानियत को सीने से चिपकाये हुए हैं ।।

ए-१०२, जयदीप अपार्टमेंट,
ज़री पटका, नागपुर ४४० ०१४.

एनकॉउंटर

✍ गुरुदत्त पांडे

आज वह बड़ी उम्मीद के साथ घर से उस बिजलीघर की ओर निकला था, जिसका उद्घाटन मंत्री जी करने वाले थे. यह बिजलीघर उस जैसे सैकड़ों श्रमजीवी किसानों की ज़मीन सरकार द्वारा अधिगृहित करके वहां बनाया गया था. ज़मीन के बदले मुआवज़े की रकम देने का वादा किया गया था. लेकिन बिजलीघर के बन जाने के बाद भी मुआवज़े की रकम का फैसला नहीं हो पाया था, क्योंकि एक स्थानीय नेता ने किसानों की तरफ से मुकदमा दायर कर रखा था. सो भारतीय अदालतों में यह मुकदमा भी उस नेता के भुनाने योग्य मुद्दे की तरह फल-फूल रहा था. लेकिन आज सभी किसान बिजलीघर के सामने प्रदर्शन करके मंत्री जी से मुआवज़े की रकम के बारे में फैसला करवाने की ठान चुके थे.

इसी उम्मीद के साथ वह अपनी टूटी साइकिल में सवार होकर कस्बे की मुख्य सड़क पर आया ही था कि सामने से सायरनों की कर्णभेदी आवाज़ों के साथ गाड़ियों का काफिला आता दिखाई दिया. वह संभल पाता, इससे पहले ही साइकिल लड़खड़ाई और वह सड़क पर बिछ गया. कई गाड़ियों के ब्रेक एक साथ लगे. इतनी-सी इंसानियत बची थी कि चमचमाती गाड़ियां उसे रौंदती हुई नहीं गुज़रीं. मंत्री जी की सुरक्षा के लिए कृतसंकल्प दरोगा जी तमतमाते हुए अपनी जीप से उतरे और दो भरपूर लातें उसके पेट पर जमा दीं. दरअसल उनके गुस्से के पीछे इस बात का डर था कि कहीं मंत्री जी का बहूमूल्य समय नष्ट होने के कारण उनकी खिंचाई न हो जाये. उन्होंने तुरंत आदेश दिया - "डाल दो साले को जीप की डिक्की में. थाने में पहुंचकर ख़बर लेंगे." एक सिपाही ने उसे उठाकर जीप के पिछवाड़े डाल दिया. टूटी हुई साइकिल सड़क के किनारे पड़ी-पड़ी मंत्री जी के काफिले को जाते देखती रही.

उद्घाटन-वुद्घाटन से निपट कर मंत्री जी को अपने इलाके से विदाई देने के बाद दरोगा जी थाने पहुंचे. कुर्सी पर इत्मीनान से बैठकर एक सिगरेट सुलगायी. तभी सिपाही ने जैसे ख़लल डाला - "साब, उ डिक्की में पड़े आदमी का क्या करूं ?" दरोगा को जैसे याद आया - "डाल दो हवालात में साले को. होश आये तो दो डंडा लगा के छोड़ देना."

सिपाही गया. घसीट कर जीप से उतारा. शरीर में कोई हरकत नहीं थी. अनमने भाव से उसकी नाड़ी देखी. सन्न रह गया. नब्ज़ बंद थी. भागकर दरोगा ज़ी को ख़बर दी. दरोगा जी बाहर आये. उन्होंने भी नब्ज़ देखी. सचमुच जान नहीं थी. सिपाही बोल रहा था - "भूखा-प्यासा लगे था साब. गिरकर उठ ही नहीं पाया. पानी के छींटे भी पड़े होते तो शायद जान पड़ जाती, लेकिन उतनी देर से डिक्की में पड़े-पड़े प्राणपखेरू ही उड़ गये." इधर दरोगा जी का दिमाग कहीं और घूम रहा था.

दूसरे दिन अख़बारों के मुख-पृष्ठ पर उसकी लाश की तस्वीर के पास दरोगा जी खड़े थे और सुर्खियों में छपा था - "मंत्री जी की हत्या करने आया दुर्दांत अपराधी एनकॉउंटर में मारा गया." दरोगा जी को इस साहसिक कार्य के लिए विशिष्ट सेवा मेडल देने की ख़बर भी उसमें छपी थी.

सी-६५ एन. सी. पी. सी./एन. टी. पी. सी., विद्युत नगर, गाजियाबाद २०१ ००८ (उ. प्र.)

तमाशा

✍ विजय शंकर विकुज

मनुआ और इमली का प्रेम भरा दांपत्य जीवन सुख-दुःख को झेलता हुआ मजे से गुज़र रहा था. विवाह के बंधन में बंधे उन्हें साल से ऊपर हो गया था. मनुआ दिहाड़ी मजदूर था, कभी कमाता, कभी नहीं. इमली भी वैसे ही घर से ब्याह कर आयी थी. जीवन की समस्याओं का दोनों ने हंस-बोल कर सामना किया. इतने दिन गुज़र जाने पर भी दोनों संतान-सुख से वंचित रहे मगर इस बात पर उन दोनों में कभी तर्क-कुतर्क नहीं हुआ, कोई अंतर उत्पन्न नहीं हुआ और न ही व्यवहार में परिवर्तन आया. दोनों का प्रेम एक-दूसरे पर दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था. एक जैसा अभावग्रस्त परिवार जो निरंतर समस्याओं को झेलता हुआ भी शांतिपूर्ण जीवन गुज़ार रहा हो, अंततः लोगों की नज़रों में खटक ही जाता है. भला किस परिवार में झड़पें, झगड़े या मारपीट नहीं होती किंतु मनुआ और इमली तो जैसे लड़ना-झगड़ना जानते ही न हों. दस साल से अधिक हो गया मगर उन दोनों में कभी झगड़ा नहीं हुआ. नहीं, जो कभी नहीं हुआ वह एक ना एक दिन अवश्य होना चाहिए. इन दोनों को लड़वाना चाहिए और यही सोचकर मनुआ के पड़ोसियों ने एक योजना बना डाली.

एक दिन मनुआ के मजदूरी पर जाने के बाद पड़ोस की कई औरतों ने मिलने-जुलने के बहाने आ कर इमली को घेरा और कहा, "अरी बहन ! जानती हो, तुम्हारा पति नोनिया है. वह तुम्हारी जात का नहीं है, छोटजतिया है. वह बड़ा ही चालाक और मक्कार है. विश्वास नहीं हो तो आज रात में तुम उसकी देह चाट देखना, सारी सच्चाई सामने आ जायेगी."

इसी तरह मनुआ के साथ मजदूरी पर जाते हुए उसके पड़ोस के साथियों ने बताया, "अरे भइया ! तुम्हारी घरवाली डायन है. रात में जब तुम सो जाते हो तो वह इधर-उधर भटकती रहती है, मंतर पढ़ती है. हम लोगों ने कई बार देखा है कि तुम्हारा बदन भी रोज चाटती है. विश्वास नहीं हो तो आज रात सोने का बहाना करके तुम हमारी बात परख लो. डायन औरत बहुत ख़तरनाक होती है. तुम पर प्रेम दिखाकर वह सबको धोखा दे रही है."

इमली को मुहल्ले की औरतों ने अपनी बातों में उलझा कर उसे मानसिक रूप से परेशान कर दिया. उन औरतों की बातों पर आश्चर्य और अविश्वास करते हुए भी उसने निर्णय लिया कि वह आज रात मनुआ के सो जाने पर उसका बदन चाट कर अवश्य देखेगी. आखिर एक बार चाट कर देखने में हर्ज ही क्या है ? और अगर वह नोनिया निकला तो वह उसे छोड़ेगी नहीं... धोखेबाज कहीं का !

मनुआ को भी उसके साथियों ने बहला-बरगला कर अंततः यह निर्णय लेने पर विवश कर दिया कि वह आज रात में सोने का बहाना करके इमली के डायन होने की बात का पता लगाये. अगर वह डायन निकली तो सचमुच बड़ी भयानक बात होगी.

शाम को मनुआ थका-मांदा घर आया. दोनों ने अपने मन के रहस्य का रत्ती भर आभास एक-दूसरे को नहीं होने दिया. प्रेम से बोलने-बतियाने, हंसी-मजाक और भोजन के बाद दोना सोने की तैयारी में लग गये. खाट बिछते ही मनुआ सो गया. सो क्या गया वो तो सोने का नाटक कर रहस्य पर से पर्दा उठने-उठने का इंतज़ार करने लगा. इमली भी इंतज़ार में थी कि थोड़ी देर के बाद वह अपना काम शुरू करे. रात गहराने के साथ जब इत्मीनान हो गया कि मनुआ गहरी नींद में गाफिल हो चुका होगा, तो वह तैयार हो गयी. वह मनुआ का बदन जीभ से चाटने लगी. पसीने से चिपचिपाये बदन को चाटते ही वह थू-थू कर उठी. मनुआ भी अपना नाटक खत्म कर उठ बैठा और इमली का झोंटा पकड़ कर चिल्लाया, "डायन! तू डायन है!"

इमली ने उसका हाथ झटक कर उसे ढकेला और चीख उठी, "तू नोनिया है! मक्कार है! तूने मुझे धोखा दिया है."

और दोनों एक-दूसरे को नोनिया और डायन कह चीखने चिल्लाने लगे. थोड़ी ही देर में वे गाली-गलौच पर उतर आये. उनके झगड़ने की आवाज़ रात के सन्नाटे में मुहल्ले में दूर-दूर तक गूंज उठी.

उनके घर के आसपास टोह में छिपे लोग मुस्कुरा उठे. उनकी मुराद पूरी हो गयी थी. तमाशा शुरू हो गया था.

(एक दंत कथा पर आधारित)

शिशुबागन, रजिस्ट्री ऑफिस रोड,
रानीगंज - ७१३३४७ (प. बं.)

With Best Compliments from

Classic Apliances

16, Trishul Complex, Sindhi Society,
Chembur, Mumbai 400 071.

Raja
Kitchen King

MIXER GRINDER

लेटर बॉक्स

❖ 'कथाबिंब' कहानी विशेषांक-२ में पूर्व की तरह सोलह कहानियां हैं. पहले के अंक में विज्ञापित कुछ प्रमुख लेखकों ने कहानियां उपलब्ध नहीं करायीं. फिर भी अच्छी कहानियां ही छपी हैं. कमलेश्वर की कहानी 'इतिहास-कथा' एक उच्च स्तरीय कहानी है. 'शोक संवाद' डॉ. सूर्यबाला, 'कोख़ का किराया' तेजेंद्र शर्मा, 'प्यासा इंद्रधनुष' डॉ. दामोदर खड़से, पाठक को सोचने पर विवश करने वाली अच्छी कहानियां हैं. शिवकुमार 'शिव' की कहानी 'शरणम् गच्छामि' का विवरण ठीक है किंतु बाद वाली घटना अलग से जोड़ी हुई लगती है.

रतीलाल शाहीन ने क्या सोचकर पत्र लिखा और क्या सोचकर आपने छाप दिया, समझ से परे है.

'कुछ कही, कुछ अनकही' में आपने पांच साल सरकार चलाने का जो सुझाव दिया है, वह उचित है. यदि ऐसा हो तो देश की जनता का भी भला हो सकता है.

लघुकथाएं 'इस्तीफा' जगदीश खरे, 'मदारी' नरेंद्र कौर छाबड़ा मर्मस्पर्शी हैं. कथा विशेषांक-२ 'कथाबिंब' को और ऊंचाई पर पहुंचाने में सफल हुआ है.

✣ नरसिंह नारायण

१३२६ विवेकानंद नगर, सुलतानपुर २२८००१ (उ. प्र.)

❖ 'कथाबिंब' का कहानी विशेषांक-२ पढ़ने का सुयोग प्राप्त हुआ. साहित्य पर इतनी स्तरीय पत्रिका देखकर मन प्रसन्न हो गया. देश भर के जाने-माने रचनाकारों को अपने आप में समेटे इस विशेषांक की जितनी प्रशंसा की जाये उतनी कम है. आकर्षक रूप, मंजा हुआ संपादन और पत्रिका निकालने का दुस्साहस. साधुवाद स्वीकारें.

✣ अनवर खान 'बारसी'

दरगाह रोड, बख़्शीपुरा, बहराइच २७१ ८०१ (उ. प्र.)

❖ 'कथाबिंब' का कहानी विशेषांक-२ प्राप्त हुआ, धन्यवाद. एक साथ अनेक कहानियों को परोसना सचमुच जटिल कार्य था लेकिन आपके प्रयास व चयन ने उसे सहज बना दिया.

कहानियां पढ़ रहा हूं और इससे पूर्व अंक पाते ही राजेंद्र यादव जी का साक्षात्कार पढ़ लिया जो कि इस अंक की एक उपलब्धि है.

✣ महावीर रवांल्टा

प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र, धरपा, बुलंदशहर २०३ १३१ (उ. प्र.)

. . . . कुछ और प्रतिक्रियाएं

❖ कहानी विशेषांक-२ हस्तगत हुआ. कहानियों को चुनचुन कर आपने संयोजित किया है. आपका श्रम रंग बिखेरता जा रहा है. समकालीन हिंदी कहानियों में जो कथ्य एवं शिल्प अपने विभिन्न तेवरों में प्रकट हो रहे हैं, उनमें मानव-जीवन के अलग-अलग रूप प्रतिबिंबित हुए हैं. बहुविध बदलाव आये हैं, उनमें वर्तमान युग और जीवन की प्रवृत्तियां, परिस्थितियों के धान-संधान, मनुष्य की अंतश्चेतना एवं मनोभाव परतों में खुलते जाते हैं अब की कहानियों में.

प्रतिनिधि हिंदी कहानियों के एकत्र संकलन से आपका यह 'कथाबिंब' वास्तव में एक दस्तावेज़ी अंक सिद्ध हो गया है. 'हंस' के समानांतर यह 'कथाबिंब' निरंतर सबको चौकन्ना कर देने को विवश करता है. पाठकों की एक जमात खड़ी होती जा रही है, 'कथाबिंब' के लिए. साधुवाद !

इस अंक में तो गीत-ग़ज़ल और कविताओं ने भी अपने रंग बिखेरे. लघुकथाएं भी धारदार आयीं. आपके संपादकीय में भी दो-टूक बातें पूरी स्पष्टता के साथ प्रकट हुईं. 'हंस' के संपादक श्री राजेंद्र यादव से भाई बलराम की बातचीत एक विशिष्ट उपलब्धि है इस अंक की.

पत्रिका की उत्तरोत्तर गतिशीलता, विकास एवं निखार के प्रति मैं आश्वस्त हूं. बाधाएं तो आयेंगी, पर डटे रहना होगा - संकल्प-समर्पण की आंच में तपते हुए, तभी तो कुंदन की दमक बरकरार रह पायेगी. चरैवेति, चरैवेति !

✣ डॉ. वीरेंद्र कुमार वसु,

रीडर एवं हिंदी विभागाध्यक्ष, एल. के. कॉलेज,
सीतामढ़ी - ८४३३०२ (बिहार)

❖ 'कथाबिंब' का जुलाई-दिसंबर २००० विशेषांक प्राप्त हुआ. पढ़ा, अच्छा लगा. सदा की भांति यह अंक भी काफी साफ-सुथरा और पठनीय लगा. लगभग सभी रचनाएं मन को संतोष देती हैं तथा आपकी सूझबूझ पूर्ण संपादकीय प्रतिभा का साक्षात उदाहरण प्रस्तुत करती हैं. आश्चर्यजनक तो यह है कि आप इस घोर महंगाई और दूषित समय में भी इतनी सशक्त पत्रिका का नियमित प्रकाशन कर रहे हैं. इस अंक से यह साबित होता है कि कहानी के क्षेत्र में आपका योगदान हिंदी साहित्य में स्तुत्य माना जायेगा. संपादन की इतनी प्रखरता अन्य कहीं दुर्लभ है.

✣ साथी छतारवी

बी-४५, मन्सा राम पार्क, उत्तम नगर क्षेत्र,
नयी दिल्ली - ११००१५

❁ कहानी विशेषांक-१ के लिए अपनी अनगढ़ प्रतिक्रिया प्रेषित की थी. शायद कहीं डाक में गुम हो गयी. कई कहानियां स्तरीय एवं उत्कृष्ट थीं. उर्मिला शिरीष की कहानी 'भाग्य-विधाता' पढ़कर कुछ ऐसा लगा कि मैं २१ मई सन् १९९१ को बी. बी. सी. हिंदी प्रसारण की प्रातःकालीन सभा में राजीव हत्याकांड का पेरमबदूर घटनास्थल से विश्व दीपक त्रिपाठी का डिस्पैच सुन रहा हूं. 'वाह सुंदरा' (सिद्धेश) कहानी ने मुझे तेंदू वनों की मनोरम छटा का अवलोकन करा दिया. ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं स्वयं उस जीप में बैठा सुंदरा से बतिया रहा हूं.

कहानी विशेषांक-२ में डॉ. सी. भास्कर राव की कहानी 'शेष यात्रा' ने सर्वाधिक उद्वेलित किया. कहानी में कंप्यूटर के बढ़ते प्रभाव से पुस्तकों का संसार सिमटता जा रहा है. आज की युवा पीढ़ी कंप्यूटर की ओर आकर्षित है. लेखक की चिंता वाज़िब है. कहानी के अंत में लेखक पुस्तक प्रेमियों को आश्वस्त भी करते हैं कि प्रत्येक काल, परिस्थिति में पुस्तक की उपादेयता कभी कम नहीं होगी, यह सच भी है.

✣ महावीर सिंह चौहान
जमालपुर किरत, बिजनौर (उ.प्र.)

❁ अपने एक मित्र से 'कथाबिंब' के दोनों कहानी विशेषांक देखने को मिले. यह देखकर प्रसन्नता हुई कि दोनों खंडों में संकलित रचनाओं के चयन में आपने एक विशेष दृष्टिकोण का परिचय दिया है. कहानी हो अथवा लघुकथाएं, छोटी हो यह बड़ी, हर रचना का एक विशेष उद्देश्य है और वह अंदर से कुछ कहती नज़र आती है. प्रायः जो विशेषांक निकलते हैं - वे कहने को मात्र विशेषांक भर होते हैं. रचनाओं के चयन पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, न ही किसी तरह की सतर्कता ही बरती जाती है. पर आपने परंपरा से हटकर काम किया है इसीलिए इन विशेषांकों का महत्व बढ़ गया है.

✣ वासुदेव
'धर्मशीला कुटीर', बोड़ेया, रांची ८३४ ५४०

❁ कहानी विशेषांक-२ एक मित्र से पढ़ने को मिला. इसकी समस्त कहानियां स्तरीय रहीं, मग़र प्रबोध कुमार गोविल की कहानी 'चिड़िया अपनी शर्तों पर झंझावत चाहती थी' ने मन झकझोर दिया. सरला अग्रवाल और नरेंद्र कौर छावड़ा की लघुकथाएं स्तरीय व शिक्षाप्रद लगीं. प्रस्तुत गीत मनभावन हैं और ग़ज़लें भी मन को छू गयीं.

✣ विजयसिंह बलवान
जटपुरा (जहांगीराबाद), बुलंदशहर २०२३९४ (उ. प्र.)

❁ कमलेश्वर जी को कहानी-संग्रहों तथा संकलनों में पढ़ने का अवसर तो मिलता ही रहता है किंतु एक पत्रिका में पढ़ना रोमांचित कर गया. किसी पत्रिका के लिए उनका यह योगदान उन्हें तो ऊंचाइयां प्रदान करता है किंतु उन रचनाकारों के लिए मिसाल भी है जो यश की चिंदी मिल जाने पर लघु-पत्रिकाओं को रचनात्मक-सहयोग करना अपने स्तर की तौहीन समझते हैं.

अंक के लगभग सभी कहानीकारों की अपनी विशिष्ट पहचान है. सूर्यबाला, जसवंत सिंह विरदी, धीरेंद्र अस्थाना, तेजेंद्र शर्मा, सी. भास्कर राव की कहानियां आपके इस मत को सहमति प्रदान करती हैं कि 'हमारा आज का रचनाकार बहुत ही जागरूक है और हमसे संबद्ध सरोकारों के प्रति सजग है.'

हिंदी लघुकथाओं के विकास में आठवें दशक की हलचल को विशेष रूप से रेखांकित किया जाता है, उसी दौरान अंतिम वर्षों में 'कथाबिंब' ने विशेषांक प्रकाशित कर अपनी विशिष्ट भागीदारी निभायी. इस निर्वाह को बनाये रखने के लिए ज़रूरी है कि लघुकथाओं के चयन में गंभीरता और निर्ममता बरती जाये, मेरा संकेत इस महत्वपूर्ण अंक में प्रकाशित एकदम कमजोर लघुकथाओं की ओर है. कृपया इसे अन्यथा न लें.

ग़ज़लों में सतीश गुप्ता, आनंद बिल्थरे तथा चांद मुंगेरी विशेष रूप से प्रभावित करते हैं. 'सागर/सीपी' में राजेंद्र यादव से बलराम की बातचीत में अंतरंगता है. बातचीत चाहे यह हो या 'कथादेश' में ओमा शर्मा से राजेंद्र जी जितनी सहजता और बिना किसी लाग लपेट के उन्मुक्त होकर अपने मन की बात प्रकट कर देते हैं, यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता है.

इस वाह ! वाह !! अंक के लिए बधाई. आपकी जीवटता को नमन !

✣ डॉ. सतीश दुबे
७६६, सुदामा नगर, इंदौर - ४५२००९ (म.प्र.)

❁ कहानी विशेषांक-२ मिला. सामग्री देखकर खुशी हुई. कमलेश्वर जी की कहानी प्रभावित करती है. सुधा अरोड़ा का वक्तव्य भी अभिभूत करता है - सारी बातें किसी गूढ़ कथानक की भांति गूंथी गयी हैं.

✣ राजेश जैन
४० करिश्मा अपार्टमेंट्स, २७ इंद्रप्रस्थ एक्सटेंशन,
पटपड़गंज, दिल्ली - ११००९२

(प्रकाशित पत्रों के अलावा भी अनेकों प्रतिक्रियाएं हमें मिली हैं. सबको प्रकाशित कर पाना बहुत मुश्किल है. कुछ लोगों ने समीक्षा के रूप में तीन-तीन, चार-चार पृष्ठों की प्रतिक्रियाएं प्रेषित की हैं जिनका समावेश करना तो असंभव ही है. हम सभी के हृदय से आभारी हैं. - संपादक)

: प्राप्ति - स्वीकृति :

मकड़ी का जाला (उपन्यास) : **मधुप शर्मा**, आत्माराम एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली - ११०००६. मू. : १५० रु.
मुख्तारनामा (उपन्यास) : **विकेश निझावन**, पारुल प्रकाशन, ८८९/५८ त्रिनगर, दिल्ली - ११००३५. मू. : ८० रु.

एक संवाददाता की डायरी (कहानी-संग्रह) : **कमलेश भारतीय**, कल्पतरू , ५९२ बी, नेहरू गली, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली - ११००३२. मू. : १०० रु.
रंगमंच (क. सं.) : डॉ. **उर्मिला शिरीष**, पारुल प्रकाशन, ८८९/५८ त्रिनगर, दिल्ली - ११००३५. मू. : १२० रु.
नाज़नीन (क. सं.) : **सुखदेव नारायण**, प्रज्ञा सर्जनात्मक मंच, वीरपुर, सुपौल - ८५४३४०. मू. : ७० रु.
अकथ (क. सं.) : डॉ. **श्याम सखा 'श्याम'**, प्रयास ट्रस्ट, १२ विकास नगर, रोहतक - १२४००१. मू. : १५० रु.
इक्कीसवीं सदी और कटे हुए हाथ (क. सं.) : डॉ. **परमलाल गुप्त**, पीयूष प्रकाशन, नमस्कार, शारदा नगर, सतना (म. प्र.) ४८५००१. मू. : ७० रु.
हिंदी की नयी कहानियां (कहानी संकलन) : **सं. डॉ. सतीशराज पुष्करणा**, हिंद प्रकाशन, १२३ न्यू कॉलोनी, कापसहेड़ा, नयी दिल्ली - ११००३७. मू. : १२५ रु.

अंधेरे के विरुद्ध (लघुकथा-संग्रह) : डॉ. **मिथिलेश कुमारी मिश्र**, वाणी वाटिका प्रकाशन, सैदपुर, पटना - ८००००४ मू. : १०० रु.
पैंसठ हिंदी लघुकथाएं (ल. सं.) : **सं. डॉ. अशोक भाटिया**, जनसुलभ पेपर बैक्स, १९३/२१, सिविल लाइन्स, बरेली - २४३००१. मू. : २५ रु.

साक्षात्कार : **कमलेश भट्ट 'कमल'**, ग्रंथलोक, १/११२४४ निकट कीर्ति मंदिर, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली ११००३२. मू. : १४० रु.

अब वहां घोंसले हैं (कविता-संग्रह) : डॉ. **दामोदर खड़से**, प्रेरणा प्रकाशन, 'कृष्णकला', डहाणूकर कॉलोनी, कोथरूड, पुणे-२९. मू. : ६० रु.
हादसा हो गया हूं मैं (क. सं.) : **विजयानंद अंशुक**, शब्दालोक प्रकाशन, सी-३/५९ नागार्जुन नगर, सादतपुर विस्तार, करावलनगर, दिल्ली - ११००९४. मू. : ७५ रु.
एक धुली मुस्कान (क. सं.) : **अंबर शुक्ल 'अंबरीश'**, वैभव प्रकाशन, २८० सेक्टर-४, दीनदयाल उपाध्याय नगर, डंगनिया, रायपुर - ४९२०१०. मू. : १०० रु.
मेरा ताज़महल (क. सं.) : **कृष्णराव व्यास 'प्रमेश'** (लेखक/प्रकाशक), १५६३ नकुल मार्ग, अन्नपूर्णा सेक्टर, सुदामा नगर, इंदौर - ४५२००९. मू. : ६० रु.
थोड़े से धूप के टुकड़े (क. सं.) : **प्रज्ञान भारती**, प्रेम वीणा प्रकाशन, ४७५ डी. डी. ए. फ्लैट्स, लाडोसराय, दिल्ली. मू. : ६० रु.
दमयंती (प्रबंध काव्य) : डॉ. **परमलाल गुप्त**, पीयूष प्रकाशन, नमस्कार, शारदा नगर, सतना (म. प्र.) ४८५००१. मू. : ७० रु.
शंख सीपी रेत पानी (ग़ज़ल-संग्रह) : **कमलेश भट्ट 'कमल'**, आत्माराम एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली - ११० ००६. मू. : ११० रु.
नदी की चीख (ग़. सं.) : **सुल्तान अहमद**, राधाकृष्ण प्रकाशन, जी-१७, जगतपुरी, दिल्ली - ११००५१. मू. : ९५ रु.
ज़र्द पत्ते हरे हो गये (ग़. सं.) : **चांद 'शेरी'**, विकल्प, ८० प्रताप नगर, कोटा - ३२४००९. मू. : ५० रु.
बदल गये दस्तूर (ग़. सं.) : **मदन मोहन 'उपेंद्र'**, सम्यक सुजन संस्थान, ए-१० शांतिनगर, मथुरा -२८१ ००१. मू. : ४० रु.

आर-पार (हाइकू संग्रह) : **सदाशिव 'कौतुक'**, साहित्य संगम, ७६६ सुदामा नगर, इंदौर - ४५२००९. मू. : ३० रु.

हमकदम लघु-पत्रिकाएं

(प्रस्तुत सूची में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो या किसी पत्रिका का प्रकाशन बंद हो गया हो तो कृपया सूचित करें.)

कथादेश (मा.) - हरिनारायण, सहयात्रा प्रकाशन प्रा. लि., १००९ इंद्रप्रकाश बिल्डिंग, २१ बाराखंभा रोड, नयी दिल्ली - ११०००१
तिब्बत देश (मा.) - विजय क्रांति, १० रिंग रोड, लाजपत नगर-४, नयी दिल्ली - ११० ०२४
शुभ तारिका (मा.) - उर्मि कृष्ण, ए-४७ शास्त्री कॉलोनी, अंबाला छावनी - १३३ ००१
वागर्थ (मा.) - प्रभाकर श्रोत्रिय, भारतीय भाषा परिषद, ३६-ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता - ७०० ०१७

अरावली उद्घोष (त्रै.) - बी. पी. वर्मा 'पथिक', ४४८ टीचर्स कॉलोनी, अंबामाता स्कीम, उदयपुर ३१३ ००४
अपूर्व जनगाथा (त्रै.) - डॉ. किरन चंद्र शर्मा, डी-७६६, जनकल्याण मार्ग, भजनपुरा, दिल्ली - ११० ०५३
अभिनव प्रसंगवश (त्रै.) - डॉ. वेदप्रकाश अभिताभ, बापूनगर, बैंक कॉलोनी, अलीगढ़ (उ. प्र.)
असुविधा (त्रै.) - रामनाथ शिवेंद्र, ग्राम-खड़ुई, पो. पचूगंज, सोनभद्र - २३१ २१३ (उ. प्र.)
अक्षरा (त्रै.) - गोविंद मिश्र, मं. प्र. रा. समिति, हिंदी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल - ४६२ ००२
आकंठ (त्रै.) - हरिशंकर अग्रवाल / अरुण तिवारी, महाराणा प्रताप वार्ड, पिपरिया ४६१ ७७५ (म. प्र.)
अंचल भारती (त्रै.) - डॉ. जयनाथ मणि त्रिपाठी, ६/५४ देवरिया-रामनाथ, देवरिया - २७४ ००१
अंतरंग (त्रै.) - प्रदीप बिहारी, चतुरंग प्रकाशन, मेनकायन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५१ १३४
अंतरंग संगिनी (त्रै.) - दिव्या जैन, गोविंद निवास, सरोजिनी रोड, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६
कंचन लता (त्रै.) - भरत मिश्र 'प्राची', डी-८, सेक्टर-३ए, खेतड़ी नगर - ३३३ ५०४
कृति ओर (त्रै.) - विजेंद्र, सी-१३३, वैशाली नगर, जयपुर - ३०२ ०२१
कथन (त्रै.) - रमेश उपाध्याय, १०७, साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-३, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली - ११० ०६३
कथा समवेत (त्रै.) - शोभनाथ शुक्ल, कल्लूमल मंदिर, सब्जी मंडी, चौक, सुल्तानपुर - २२८ ००१
कारवां (त्रै.) - कपिलेश भोज, पो. सोमेश्वर, अल्मोड़ा - २६३ ६३७
कल के लिए (त्रै.) - डॉ. जयनारायण, 'अनुभूति', प्लानिंग कॉलोनी, अलीगढ़ (उ. प्र.)
कहानीकार (त्रै.) - कमल गुप्त, के ३०/३६ अरविंद कुटीर, वाराणसी २२१ ००१
गीतकार (त्रै.) - साथी छतावरी, ९३३/२ तंबर मार्ग, नज़फगढ़ रोड, नयी दिल्ली - ११० ०१५
गुंजन (त्रै.) - मोहन सिंह रावत, रोहिला लॉज परिसर, तल्लीताल, नैनीताल - २६३ ००२
तटस्थ (त्रै.) - डॉ. कृष्ण बिहारी सहल, विवेकानंद विला, पुलिस लाइन्स के पीछे सीकर - ३३२ ००१
तेवर (त्रै.) - कमलनयन पांडेय, १५८७/४, उदय प्रताप कॉलोनी, बढ़ैयावीर, सिविल लाइन्स, सुलतानपुर - २२८ ००१
दस्तक (त्रै.) - राघव आलोक, "साराजहां", मकदमपुर, जमशेदपुर - ८३१ ००२
निष्कर्ष (त्रै.) - गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, ५९ खैराबाद, दरियापुर रोड, सुलतानपुर - २२८ ००१
पश्यंती (त्रै.) - प्रणव कुमार बंद्योपाध्याय, बी-१/१०४ जनकपुरी, नयी दिल्ली - ११० ०५८
प्रयास (त्रै.) - शंकर प्रसाद करगेती, 'संवेदना', एफ-२३, नयी कॉलोनी, कासिमपुर, अलीगढ़ - २०२ १२७
प्रेरणा (त्रै.) - अरुण तिवारी, सी-१६०, शाहपुरा, भोपाल - ४६२ ०१६
पुरुष (त्रै.) - विजयकांत, गोशाला रोड, मुजफ्फरपुर (बिहार)
भाषा सेतु (त्रै.) - डॉ. अंबाशंकर नागर, हिंदी साहित्य परिषद, २ अमर आलोक अपार्टमेंट, बालवाटिका, मणिनगर, अहमदाबाद - ३८० ००८
मसि कागद (त्रै.) - डॉ. श्याम सखा 'श्याम,' १२ विकास नगर, रोहतक १२४ ००१
मुहिम (त्रै.) - बच्चा यादव / रणविजय सिंह सत्यकेतु, रचनाकार प्रकाशन, गुरुद्वारा मार्ग, पूर्णिया - ८५४ ३०१
युग साहित्य मानस (त्रै.) - सी. जय शंकर बाबु, १८/७९५/एफ/८-ए, तिलक नगर, गुंतकल - ५१५ ८०१ (आं. प्र.)
वर्तमान जनगाथा (त्रै.) - बलराम अग्रवाल, डी-२२ शांतिपथ, पत्रकार कॉलोनी, तिलक नगर, जयपुर - ३०२ ००४
संबोधन (त्रै.) - कमर मेवाड़ी, चांदपोल, कांकरोली - ३१३ ३२४
समकालीन सृजन (त्रै.) - शंभुनाथ, २० बालमुकुंद मक्कर रोड, कलकत्ता - ७०० ००७
साखी (त्रै.) - केदारनाथ सिंह, प्रेमचंद साहित्य संस्थान, प्रेमचंद पार्क, बेतिया हाता, गोरखपुर - २७३ ००१
सदभावना दर्पण (त्रै.) - गिरीश पंकज, जी-५० नया पंचशील नगर, रायपुर - ४९२ ००१
समझ (त्रै.) - डॉ. सोहन शर्मा, ए/१२ दीपसागर, पंतकी बाग के पास, अंधेरी (पू.), मुंबई - ४०० ०६९
संयोग साहित्य (त्रै.) - मुरलीधर पांडेय, १०५/बी, द्वारका भवन, बी. पी. क्रॉस रोड नं. ४, भायंदर (प.), मुंबई - ४०१ १०५
स्वातिपथ (त्रै.) - कृष्ण 'मनु', साहित्यांजन, बी-३/३५, बालुडीह, मुनीडीह, धनबाद - ८२८ १२९
शब्द संसार (त्रै.) - संजय सिन्हा, पो. बॉक्स नं, १६४, आसनसोल ७१३३०१

शुरुआत (त्रै.) - वीरेंद्र कुमार श्रीवास्तव, ३० आकाश गंगा परिसर, पुरानी बस्ती, मनेंद्रगढ़
शेष (त्रै.) - हसन जमाल, पन्ना निवास के पास, लोहार पुरा, जोधपुर -३४२ ००२
हिंदुस्तानी ज़बान (त्रै.) - डॉ. सुशीला गुप्ता, महात्मा गांधी बिल्डिंग, ७ नेताजी सुभाष रोड, मुंबई - ४०० ००२
निमित्त (त्रै.) - श्याम सुंदर निगम, १४१५, 'पूर्णिमा', रतनलाल नगर, कानपुर २०८ ०२२
अविरल मंथन (छ.) - राजेंद्र वर्मा, ३/२९ विकास नगर, लखनऊ - २२६ ०२०
समीचीन (वा.) - डॉ. देवेश ठाकुर, बी-२३ हिमाचल सोसायटी, असल्फा, घाटकोपर (पू.), मुंबई ४०० ०८४.
अब (अ.) - शंकर / अभय / नर्मदेश्वर, ७४ इ, गोरक्षिणी पथ, ससाराम - ८२१ ११५
उत्तरार्द्ध (अ.) - विजयलक्ष्मी, ३८८ राधिका विहार, मथुरा - २८१ ००४
कला (अ.) - कलाधर, नया टोला, लाइन बाजार, पूर्णियां - ८५४ ३०१
पुनः (अ.) - कृष्णानंद कृष्ण, दक्षिणी अशोक नगर, पथ सं-८बी, कंकड़ बाग, पटना - ८०० ०२०
सरोकार (अ.) - सदानंद सुमन, रानीगंज, मेरीगंज, अररिया - ८५४ ३३४
सम्यक (अ.) - मदन मोहन उपेंद्र, ए-१० शांतिनगर (संजय नगर), मथुरा २८१ ००१

'कथाबिंब' यहां भी उपलब्ध है :

- **पीपुल्स बुक हाउस**, मेहर हाउस, १५ कावसजी पटेल स्ट्रीट, मुंबई - ४०० ००१. फोन : २८७ ३७३८
- **डॉ. देवकीनंदन**, ए-१/३०४, हृषीकेश, स्वामी समर्थ नगर, लोखंडवाला कॉम्प्लेक्स, अंधेरी (प.), मुंबई - ४०००५३. फोन : ६३२ ०४२५
- **श्री वीरेंद्र सिंह चंदेल**, १३६ तलैय्या लेन, परेड ग्राउन्डस, फतेहगढ़ - २०९६०१
- **श्री रविशंकर खरे**, हरिहर निवास, माधोपुर, गोरखपुर - २७३००१.
- **श्री राजेंद्र आहुति**, ए १३/६८, भगतपुरी, वाराणसी-२२१००१.
- **स ब द**, १७१ कर्नलगंज, स्वराज भवन के सामने, इलाहाबाद - २११००२.
- **डॉ. गिरीश चंद श्रीवास्तव**, ५९ खैराबाद, दरियापुर रोड, सुलतानपुर-२२८००१. फोन : २३२८५
- **श्री अनिल अग्रवाल**, परिवेश लघु पत्रिका मंडप, पुराना गंज, रामपुर-२४४९०१. फोन : ३२७३६१
- **श्री योगेंद्र दवे**, ब्रम्हपुरी, पीपलिया, जोधपुर-३४२००१
- **श्री राही सहयोग संस्थान**, शकुंतला भवन, बालाजी के मंदिर के पास, वनस्थली-३०४ ०२२ (राज.). फोन : २८३६७
- **श्री भुवनेश कुमार**, सं : कविता, २२० सेक्टर-१६, फरीदाबाद - १२१००२
- **श्री गोविंद अक्षय**, अक्षय फीचर सर्विसेस, १३-६-४११/२, रामसिंहपुरा, कारवान, हैदराबाद - ५०००६७.
- **श्री राजेश केडिया**, हाई स्कूल रोड, अंबिकापुर, सरगुजा (म. प्र.) ४९७००१
- **श्री नूर मुहम्मद 'नूर'**, सी. सी. एम. क्लैम्स लॉ, दक्षिण पूर्व रेल्वे, ३, कोयला घाट स्ट्रीट, कलकत्ता - ७००००१
- **श्री संजय सिन्हा**, पोस्ट बॉक्स नं. १६४, आसनसोल-७१३३०१
- **श्री देवेंद्र सिंह**, देवगिरी, आदमपुर घाट मोड़, भागलपुर - ८१२००१.
- **व्यवस्थापक**, सर्वोदय बुक स्टाल, रेल्वे स्टेशन, भागलपुर - ८१२००१.
- **श्री कलाधर**, आदर्श नगर, नया टोला, पूर्णियां - ८५४३०१.
- **मेसर्स लाल मणि साह**, आर.एन.साव. चौक, पूर्णिया - ८५४३०१.
- **श्री महेंद्र नारायण पंकज**, राजकीय प्राथमिक विद्यालय, पैकपार, मेरीगंज, अररिया - ८५४३३४.
- **श्री बसंत कुमार**, दीर्घतपा, वार्ड-६, अररिया -८५४३३४
- **सुश्री मेनका मल्लिक**, चतुरंग प्रकाशन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५११३४
- **श्री रणजीत बिहारी**, पत्रिका मंडप, पंचवटी, चीरागोड़ा, धनबाद - ८२६००१.
- **श्री देवेंद्र होलकर**, १८८ सुदामा नगर, अन्नपूर्णा सेक्टर, इंदौर - ४५२००९. फोन : ४८४ ४५२
- **श्री मिथिलेश 'आदित्य'**, पोस्ट बॉक्स-१, मेनरोड, जोगबनी - ८५४३२८

चौथे विजय वर्मा कथा-सम्मान के लिए प्रविष्टियां आमंत्रित

सुप्रसिद्ध साहित्यकार स्व. विजय वर्मा की स्मृति में वर्ष १९९८ से प्रारंभ किये ***विजय वर्मा कथा-सम्मान*** *के लिए प्रविष्टियां आमंत्रित हैं. इस पुरस्कार के अंतर्गत ग्यारह हज़ार की धनराशि, शाल, स्मृतिचिह्न तथा श्रीफल पुरस्कृत साहित्यकार को मुंबई में समारोहपूर्वक प्रदान किया जाता है. कृपया प्रकाशक एवं लेखक गत तीन वर्ष की अवधि में प्रकाशित कथा-संग्रह की तीन प्रतियां ३० अगस्त २००१ तक निम्नलिखित पते पर भेजें. आयु सीमा ५० वर्ष निर्धारित है.*

विजय वर्मा मेमोरियल ट्रस्ट
बी-७०२, निर्मल टॉवर, गौरव-गैलेक्सी,
फेज़-२ के पीछे, मीरा रोड (पू.), ठाणे ४०११०७

प्रबंधन्यासी
संतोष श्रीवास्तव

With Best Compliments From

MANOJ GENERAL STORES

11 A, Shanta Niwas,
Anand Nagar,
Chembur,
Mumbai - 400 071.

: PHONE :
522 3419

Kantilal Singhal

Queen's Wine Centre

Sion-Trombay Road,
Chembur, Mumbai - 400 071.

Phones : (Shop) 522 5205 & 523 3517; (Res.) 551 2102

वाराणसी में 'कथाबिंब-परिवार'

(२१ - २२ जनवरी २००१)

बांयें से दायें : श्री रामसिंह मौर्य, श्री प्रकाश श्रीवास्तव, श्री राजेंद्र आहुति, श्री ब्रजेंद्र गर्ग, डॉ. अरविंद, श्री अजित श्रीवास्तव, श्री अलकबीर और सुश्री मंजुश्री.

डॉ. अरविंद व्यंग्य प्रधान पत्रिका 'डोली के कहार' का लोकार्पण करते हुए, साथ में हैं पत्रिका के उपसंपादक श्री अजित श्रीवास्तव एवं पं. श्रीकृष्ण तिवारी. इस अवसर पर 'संतुलन साहित्य परिषद्', 'मयूर साहित्य परिषद्' एवं 'अदबी संगम' संस्थाओं ने डॉ. अरविंद का अभिनंदन भी किया.

मंजुश्री द्वारा संपादित व **आर्ट होम**, शांताराम साळुंके मार्ग, घोड़पदेव, मुंबई - ४०० ०३३ में मुद्रित.
टाइप सेटर्स : **वन-अप प्रिंटर्स**, १२वां रास्ता, द्वारका कुंज, चेंबूर, मुंबई - ४०० ०७१. फो. : ५५५ २३४८ व ५५६ ६२८४.